योगानुवाद

अर्थात्

पातञ्जल योगदर्शन व व्यासकृतभाष्य

का

हिन्दी तर्जुमा

जिसको

श्रीयुत पण्डित राधारमण चतुर्वेदी सेक्रेटेरी
जनाब दीवान साहिब रियासत भरतपुर
ने लोकहितार्थ किया

HINDI TRANSLATION

OF

PATANJALI YOG & VYAS COMMENTARY

BY

P. RADHA RAMAN CHATURVEDI,

SECRETARY TO DEWAN SAHIB, BHURTPORE STATE.

AGRA.

PRINTED AT THE MOON PRESS.

1897.

मून प्रेस आगरा में मुद्रित हुआ
सन् १८९७ ई०

प्रथम वार १००० पुस्तकें कीमत
फ़ी पुस्तक मय डाक महसूल ३॥)
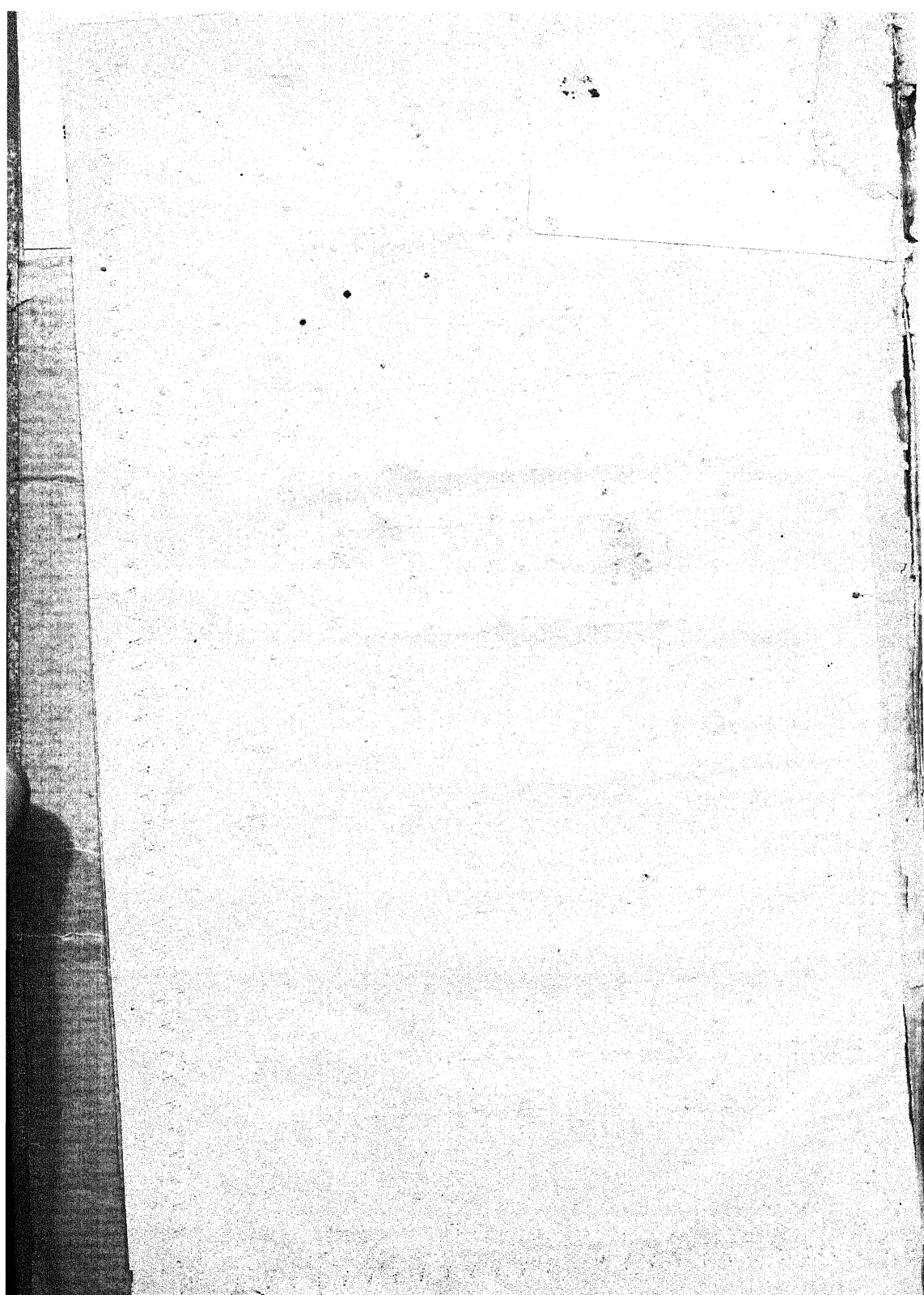
भूमिका

यह ज़ाहिर है कि वेद सब विद्याओं की खान है और वे इसी से निकली हैं। योग भी वेदही में गर्भित था और प्राचीन ऋषियों ने उस से निकाल कर बिस्तार रूप में किया। प्रथम इस के बडे भारी वक्ता हिरण्यगर्भ हुए। पश्चात् और भी हुए और अन्त में सूर्य्य से याज्ञवल्क्य ने योग सीखा और याज्ञवल्क्य से पतञ्जलि ने। पतञ्जलि ने योग को सूत्ररूप में निर्माण कर के संसार में प्रगट किया कि जिस का अनुवाद हिन्दी भाषा में मैं करता हूं॥

पतञ्जलिजी उसी समय में रहते थे जब कि व्यास, शुक पाणिनि आदि इस संसार में विद्यमान थे। पतञ्जलि शब्द का अर्थ यह है॥

पतन्ति अञ्जलयो यस्मिन् सः पतञ्जलिः

यानी

जिस के निमित्त अञ्जुली गिरती हैं यानी जिस को सब कोई नमता है वह पतञ्जलि है॥

ऐसा भी सुना जाता है कि पाणिनि के यहां कात्यायन पढ़ा करता था। जब पाणिनि ने व्याकरण सूत्र बनाये तो कात्यायन उन में खोट निकाला करता था जिस से पाणिनि का चित्त दुखित होता था। इस क्लेश के दूर करने के निमित्त पाणिनि ने एक रोज़ ईश्वर से अञ्जुलि पसार कर प्रार्थना की कि ऐसा शिष्य मिलै कि जो कात्यायन का मुख मोड़े। ईश्वर दया से उन की अञ्जुली में पतञ्जलि गिरे जिस से उन का नाम पतञ्जलि अर्थात्

पतन्ति अंजलयो यः सः पतंजलिः

यानी

जो अञ्जुली में आकर गिरा सो पतञ्जलि हुआ॥

ब्रह्मचर्य्य में पतञ्जलि ने पाणिनि से व्याकरण सीखा और महाभाष्य बनाई। तदनन्तर याज्ञवल्क्य के पास जाकर योग सीखा और फिर योगसूत्र

और चरक वैद्यक ग्रन्थ बनाया। इस प्रकार पतञ्जलि ने मनुष्य के तीनों तरह के दोषों को दूर किया ॥ यानी

शरीर के दोष ... ... चरक से
वाणी के दोष ... ... महाभाष्य से
चित्त के दोष ... ... योगसूत्रों से

अन्त में पतंजलि ने बद्रिकाश्रम में जाकर शुक से सन्न्यास लिया और फिर तप किया। सन्न्यासावस्था में पतंजलि का नाम गौड़पाद था ॥

योग दर्शन जो पतंजलि ने बनाया चार पादों में विभक्त है। चारों पादों के नाम सूत्रसंख्या सहित नीचे लिखे हुए हैं ॥

क्रम			पाद		सूत्र
प्रथम	...	...	समाधि	...	५१
द्वितीय	...	...	साधन	...	५५
तृतीय	...	...	विभूति	...	५४
चतुर्थ	...	...	कैवल्य	...	३४
				कुल	१९४

पतंजलि के योग सूत्रों पर व्यास ने भाष्य की है। इसलिये प्रत्येक सूत्र मय भाष्य का अर्थ अगाड़ी लिखा जाता है जैसा कि मुझ को मंगलनाथ सन्न्यासी बीकानेर वाले ने बताया है और याद रहा है। मैं जानता हूं कि मेरा किया हुआ अर्थ जैसा चाहिये वैसा न होगा। बुद्धिमान् लोग उस को सम्हाल लेवें और यदि मुझ को भी इत्तिला देवें तो बड़ा अनुग्रह होगा। क्रम अनुवाद का यह है ॥

सूत्र सूत्र का अर्थ भाष्य भाष्य का अर्थ

और जिन शब्दों को अर्थ के पूरा करने के लिये आवश्यक समझा है वे कोष्टक में लाये गये हैं ॥

समाधिपादः

सूत्र १

अथ योगानुशासनं ॥

अर्थ

अगाड़ी योग का उपदेश (होता है) ॥

भाष्य

यस्त्यक्त्वा रूपमाद्यं प्रभवति जगतोऽनेकधानुग्रहाय प्रक्षीणक्लेशराशिर्विषमविषधरोऽनेकवक्त्रः सुभोगी। सर्वज्ञान-प्रसूतिर्भुजगपरिकरः प्रीतये यस्य नित्यं देवोऽहीशःस वोऽव्यात् सितविमलतनुर्योगदो योगयुक्तः। अथेत्ययमधिकारार्थः। योगा-नुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्। योगः समाधिः। स च सार्वभौमः चित्तस्य धर्मः। क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्ध-मिति चित्तभूमयः। तत्र विक्षिप्तं चेतसि विक्षेपोपसर्जनीभूतः समाधिर्न योग पक्षे वर्त्तते। यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान्, कर्मबन्धनानि श्लथयति, निरोध मभिमुखं करोति, स सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्यायते। सच वितर्कानुगतो विचारानुगतेन आनन्दानुगतोऽस्मितानुगत इत्युपरिष्टात् प्रवेदयिष्यामः। सर्ववृत्तिनिरोधे त्वसम्प्रज्ञातः समाधिः॥ तस्य लक्षणाभिधित्सयेदंसूत्रं प्रवहते:—

अर्थ

प्रथम जो श्लोक दिया हुआ है वह व्यासजी ने विद्यार्थी के निमित्त आशीर्वाद के तौर पर कथन किया है और उस का अर्थ यह है ॥

सूत्र २

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥

अर्थ

योग चित्त की वृत्तियों का रोकना (है) ॥

भाष्य

सर्वशब्दाग्रहणात् सम्प्रज्ञातोऽपि योग इत्याख्यायते। चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम्। प्रख्यारूपं हि चित्तसत्वं रजस्तमोभ्याम् संसृष्टमैश्वर्य्यविषयप्रियं भवति। तदेव तमसानुविद्धमधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्य्योपगं भवति। तदेव प्रक्षीणमोहावरणं सर्वतः प्रद्योतमानमनुविद्धं रजोमात्रया धर्म-ज्ञानवैराग्यैश्वर्य्योपगं भवति। तदेव रजोलेशमलापेतं स्वरूप-प्रतिष्ठं सत्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रंधर्ममेघध्यानोपगं भवति। तत्परं प्रसंख्यानमित्याचक्षते ध्यायिनः। चितिशक्तिरपरिणा-मिन्यप्रतिसंक्रमा, दर्शितविषया, शुद्धाचानन्ता च। सत्वगुणा-त्मिका चेयमतो विपरीता विवेकख्यातिरित्यतस्तस्यां विरक्तं चित्तं तामपिख्यातिं निरुणद्धि। तदवस्थं चित्तं संस्कारोपगं भवति। स निर्बीजः समाधिः। न तत्र किंचित् सम्प्रज्ञायत इत्यसम्प्र-ज्ञातः। द्विविधः स योगश्चित्तवृत्तिनिरोध इति ॥ तदवस्थे चेतसि विषयाभावात् बुद्धिबोधात्मा पुरुषः किं स्वभाव इति ?

अर्थ

सूत्र में चित्त शब्द के पूर्व सर्व शब्द न आने से सम्प्रज्ञात् समाधि भी योग कहलाती है। चित्त का स्वभाव प्रख्या यानी प्रकाश, प्रवृत्ति यानी क्रिया और स्थिति यानी आवरण है इसलिये वह तीन गुण वाला है। प्रकाश रूप

चित्त यदि रजो गुण और तमो गुण से मिला हुआ हो तो उस को ऐश्वर्य्य और विषय प्रिय होते हैं। वही चित्त जब तमो गुण से बिधा हुआ होता है अर्थात् तमो गुण प्रधान होता है, तो अधर्म, अज्ञान अवैराग्य और अनैश्वर्य्य से व्याप्त होता है। उसी चित्त का चारों ओर से जब मोह का आवरण क्षीण हो जाता है, और स्वयं प्रकाशमान व लेशमात्र रजो गुण से अनुविद्ध (बिधा हुआ) होता है तो धर्म ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य्य से व्याप्त होता है। जब लेशमात्र रजो गुण से रहित, अपने रूप में स्थित् और सत्व (चित्त का) और पुरुष की अन्यता का केवल विचार करने वाला चित्त होता है तो वह धर्ममेघ (एक प्रकार का ध्यान कि जिस का अगाड़ी ज़िकर आवैगा) ध्यान से युक्त होता है। और इसी को ध्यान करने वाले योगीजन परम अभ्यास कहते हैं। चितिशक्ति (अर्थात् पुरुष) में परिणाम (अर्थात् तब्दीली) नहीं होती और न उस का प्रतिसंक्रमण (अर्थात् किसी अन्य पदार्थ में गिरना) होता है जिस्से मुराद यह है कि वह स्वस्थ वा अचल है और जैसी की तैसी बनी रहती है। सिवाय इस के विषय उस को दिखाये जाते हैं और वह शुद्ध और अनन्त है। अनन्त के दो अर्थ बुद्धिमान करते हैं एक तो नाश रहित और दूसरा जिस का अन्त अर्थात् अखीर न हो। सतो गुण रूपी जो यह विवेकख्याति (अर्थात् सत्वपुरुषान्यता-ख्याति कि जिस का ऊपर ज़िकर होगया है) वह चितिशक्ति से विपरीत है इसलिये उस ख्याति से विरक्त चित्त उस को भी रोक देता है अर्थात् उस को भी त्याग देता है। उस अवस्था में चित्त केवल संस्कारमात्र है इसलिये वह समाधि निर्बीज है और जोकि उस में कुछ भी विचार नहीं होता है अतएव असम्प्रज्ञात है। इस तरह पर दो प्रकार का चित्त वृत्ति निरोध रूपी योग है॥

चित्त की उस अवस्था में विषयों के न होने से पुरुष कि जिस को बोध बुद्धि द्वारा होता है किस स्वभाव वाला है?

सूत्र ३

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्॥

अर्थ

तब (अर्थात् जब चित्त की योगावस्था होती है) द्रष्टा (आत्मा) अपने रूप में स्थित होता है॥

भाष्य

स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथाकैवल्ये, व्युत्थानचित्तेतु सतितथापिभवन्तिनतथा ॥ कथंतर्हिदर्शितविषयत्वात् ?

अर्थ

उस समय (अर्थात् योगावस्था में) चितिशक्ति यानी पुरुष अपने रूप में स्थित रहता है जैसे कि कैवल्य अर्थात् मोक्ष में। व्युत्थितचित्त होने पर भी पुरुष वैसा ही रहता है परन्तु योगावस्था में उस प्रकार नहीं। तातपर्य्य यह है कि पुरुष तो सदैव एकसा है चाहे योगावस्था चित्त की हो अथवा व्युत्थान-दशा हो। व्युत्थान दशा में आत्मा का चित्त के साथ स्वस्वामि भाव सम्बन्ध होने से योगावस्था पृथक् है कि जिस में पुरुष का कोई सम्बन्ध नहीं। इसलिये योगावस्था में स्वरूप स्थित व्युत्थानदशा कैसी नहीं है ॥

तो कैसी है? विषयों के दिखाये जानें की वजह से :—

सूत्र ४

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥

अर्थ

योगावस्था से पृथक् व्युत्थान दशा में वृत्ति की सारूप्यता द्रष्टा को होती है ॥

भाष्य

व्युत्थाने याः चित्तवृत्तयः तदविशिष्टवृत्तिः पुरुषः। तथा च सूत्रं "एकमेव दर्शनं," ख्यातिरेवदर्शनमिति। चित्त-मयस्कान्तमणिकल्पं सन्निधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वम् भवति पुरुषस्य स्वामिनः। तस्माच्चित्तवृत्तिबोधे पुरुषस्यानादिसम्बन्धो हेतुः। ताः पुनर्निरोद्धव्या बहुत्वे सति ॥ चित्तस्य :—

अर्थ

व्युत्थान दशा में जो चित्त की वृत्तियां होती हैं उन से अभिन्न वृत्ति वाला पुरुष होता है और ऐसा ही सूत्र पंच शिखजी ने कहा है कि एक ही दर्शन है अर्थात् ख्याति (जिस का पूर्व में ज़िकर हो चुका है) ही दर्शन है अन्य

(अर्थात् वृत्तिसारूप्यता) दर्शन नहीं। चित्त चुम्बक के सदृश है। य
केवल समीप होने से ही उपकार करने वाला है। अतः भोग्यत
स्वामी पुरुष का स्वं (अर्थात् मिल्कियत) चित्त होजाता है और इसी सबब से
चित्त की वृत्ति के बोध (अर्थात् जानने) में पुरुष का अनादि सम्बन्ध कारण
है॥ क्योंकि वृत्तियां बहुत हैं इसलिये उन को रोकना चाहिये॥ चित्त की:—

सूत्र ५

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः॥

अर्थ

वृत्तियां पांच प्रकार की हैं और क्लिष्ट (अर्थात् क्लेश से उत्पन्न) और अक्लिष्ट (अर्थात् ख्यातिविषया) हैं॥

भाष्य

क्लेशहेतुकाः कर्माशयप्रचये क्षेत्रीभूताः क्लिष्टाः। ख्यातिविषया गुणाधिकारविरोधिन्योऽक्लिष्टाः। क्लिष्टप्रवाहपतिता अप्यक्लिष्टाः। क्लिष्टच्छिद्रेष्वप्यक्लिष्टा भवन्ति। अक्लिष्टच्छिद्रेषु क्लिष्टा इति। तथाजातीयकाः संस्काराः वृत्तिभिरेव क्रियन्ते। संस्कारैश्च वृत्तय इति। एवं वृत्तिसंस्कारचक्रमनिशमावर्तते। तदेवम्भूतं चित्तमवसिताधिकारमात्मकल्पेन व्यवतिष्ठते, प्रलयं गच्छतीति वा॥ ताः क्लिष्टाश्चाक्लिष्टाश्च पंचधा वृत्तयः॥

अर्थ

जिन वृत्तियों की जड़ क्लेश हैं और जो कर्माशय की वृद्धि में क्षेत्र के समान हैं वे क्लिष्ट वृत्तियां हैं और जिन का विषय ख्याति है और गुणों के अधिकार के विरोधी हैं वे अक्लिष्ट हैं। क्लिष्ट वृत्तियों के प्रवाह में गिरी हुई भी अक्लिष्ट होती हैं। क्लिष्ट वृत्तियों के छिद्रों (अर्थात् अवकाश या उन के बीच २ में) अक्लिष्ट वृत्तियां होती हैं और ऐसे ही अक्लिष्ट वृत्तियों के बीच में क्लिष्ट आजाती हैं। वैसे ही संस्कार वृत्तियों से ही उत्पन्न होते हैं और संस्कारों से वृत्तियां। इस तरह पर वृत्ति संस्कार चक्र दिन रात चलता रहता है। सो ऐसे चित्त का जब अधिकार समाप्त हो जाता है अर्थात् चित्त अपने काम से रहित हो जाता है तो उस की स्थिति केवल अपने रूप कर के होती है अथवा उस की प्रलय (अपने कारण में लीन हो जाना) होती है॥ वे क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियां पांच प्रकार की हैं:—

सूत्र ६

प्रमाणविपर्य्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥

अर्थ

प्रमाण विपर्य्यय विकल्प निद्रा और स्मृति (हैं) ॥

भाष्य

तत्र—

अर्थ

तिन में से। और भाष्य की ज़रूरत नहीं इसलिये व्यासजी ने नहीं की ॥

सूत्र ७

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥

अर्थ

प्रत्यक्ष अनुमान और आगम प्रमाण (हैं) ॥

भाष्य

इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणं । फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः बुद्धेः प्रतिसंवेदि पुरुष इत्युपरिष्टात् उपपादयिष्यामः। अनुमेयस्य तुल्यजातीये ष्वनुवृत्तो भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः सम्बन्धो यस्तद्विषया सामान्यावधारणप्रधानवृत्तिरनुमानम्। यथा देशान्तरप्राप्तेर्गतिमच्चन्द्रतारकं चैत्रवत्। विन्ध्यश्चाप्राप्तिरगतिः। आप्तेन दृष्टोनुमितोवार्थः परत्र स्वबोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते । शब्दात्तदर्थविषयावृत्तिः श्रोतुरागमः। यस्यागमस्याश्रद्धेयार्थो वक्ता न दृष्टानुमितार्थः स आगमः प्लवते । मूलवक्तरि तु दृष्टानुमितार्थे निर्विप्लवः स्यात् ॥

अर्थ

पनाले के सदृश इन्द्रिय की द्वारा चित्त के बाहर की वस्तु से उपरक्त होने की वजह से उस वस्तु विषयिक वृत्ति कि जिस में सामान्यविशेषरूप अर्थ का विशेषावाधारण (अर्थात् विशेष का निश्चय किया जाना) मुख्य है प्रत्यक्ष प्रमाण

है। पुरुषसम्बन्धी जो उस चित्तवृत्ति का बोध है वह प्रत्यक्ष प्रमाण के फल से अभिन्न है। बुद्धि का प्रतिसम्वेदी (अर्थात् प्रत्यक रूप से जो जानें। इस का उलटा पराकसम्वेदी है। प्रत्यकसम्वेदी वह है कि जो अपुन तौ अन्य को ज्ञात न हो और खुद अन्य को जानें और पराकसम्वेदी वह है जो स्वयं जाना जाय और पराक रूप कर के अन्य वस्तुओं को जतावे। प्रत्यकसम्वेदी इस प्रकार केवल आत्मा है और पराकसम्वेदी बुद्धि नेत्रादि हैं) पुरुष है, अगाड़ी दिखलावेंगे। जिस का अनुमान किया जाय उस को अनुमेय कहते हैं। अनुमेय का समानजाति वाली वस्तुओं से सदृशता और भिन्नजाति वाली वस्तुओं से असदृशता रूप जो सम्बन्ध है तद्विषयक जो वृत्ति कि जिस में सामान्य का निश्चय प्रधान है अनुमान है। जैसे दूसरी जगह पर चले जाने से चन्द्रमा व तारे चैत्रनामी मनुष्य की नाईं चलने वाले हैं और विन्ध्याचल पर्वत की दूसरी जगह पर प्राप्ति नहीं है इसलिये वह चलता नहीं॥ सच्चे ज्ञानवान् पुरुष को आप्त कहते हैं। आप्त ने जिस अर्थ को खुद देख लिया है वा उस का अनुमान कर लिया है तौ अर्थ का उपदेश जिस समय कि आप्त अपने खयालात को दूसरे से ज़ाहर करेगा शब्द की द्वारा किया जायगा। शब्द की वजह से तद्विषयक जो वृत्ति है वह सुन्ने वाले को आगम प्रमाण है। जिस आगम का वक्ता ऐसा है कि उसने अर्थ को न तौ खुद देखा और न उस का अनुमान व निश्चय किया तौ वह आगम ठहर नहीं सक्ता इसलिये प्रतिष्ठित नहीं परन्तु असल कहने वाले का आगम कि जिसने अर्थ को खुद देख लिया है व उस का अनुमान कर लिया है सुप्रतिष्ठित होता है॥

सूत्र ८

विपर्य्ययो। मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥

अर्थ

विपर्य्यय मिथ्याज्ञान है और वस्तु का जो रूप है उस में उस वृत्ति की प्रतिष्ठा नहीं अर्थात् वस्तु के वास्तव रूप से उस का कुछ सम्बन्ध नहीं पर उस से पृथक् विचार में वर्तमान है। पतंजलिजी ने इस सूत्र ही से विपर्य्य का लक्षण दिखा दिया है। अन्य सूत्र जो लिखे गये हैं उन में यह नियम रहा है कि व्याख्या के बाद व्याख्येय आया है जैसे पिछले ६ वा ७ सूत्र में अथवा अगले ८ वा ९ में देखो। परन्तु उस क्रम को उलट कर के विपर्य्यय अर्थात् व्याख्येय पहिले ही लाया गया है॥

भाष्य

स कस्मान्नप्रमाणं। यतः प्रमाणेन बाध्यते भूतार्थविषयत्वात्प्रमाणस्य। तत्र प्रमाणेन बाधनमप्रमाणस्य दृष्टं। तद्यथा द्विचन्द्रदर्शनं सद्विषयेणैकचन्द्रदर्शनेन बाध्यत इति। सेयं पंचपर्वा भवत्यविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा क्लेशाः इति। अतएव स्वसंज्ञाभिस्तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोन्धतामिस्र इति। एते चित्तमलप्रसङ्गेनाभिधास्यन्ते॥

अर्थ

वह (अर्थात् विपर्य्यय) क्यों प्रमाण नहीं है! क्योंकि प्रमाण से कि जिस में सत्य अर्थ रहता है उस का बाधन (काट) होता है और प्रमाण से बाधन अप्रमाण का देखा भी गया है यथा दो चन्द्रमाओं का दर्शन सच्चीबात एक चन्द्रदर्शन से कट जाता है। यह विपर्य्यय वृत्ति पांच पर्व वाली है और वे पर्व अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश क्लेश हैं। जिन की पौराणिक संज्ञा तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र है। इन का ज़िकर चित्तमल प्रसङ्ग में होगा॥

सूत्र ९

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः॥

अर्थ

जिस में शब्द का ज्ञान तो हो परन्तु विषय कुछ न हो उस को विकल्पवृत्ति कहते हैं॥

भाष्य

स न प्रमाणोपारोही न विपर्य्ययोपारोही। वस्तुशून्यत्वेऽपि शब्दज्ञानमाहात्म्यनिबन्धनो व्यवहारो दृश्यते। तद्यथा चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति। यदा चितिरेव पुरुषः तदा किमत्र केन व्यपदिश्यते। भवति च व्यपदेशवृत्तिः। यथा चैत्रस्य गौरिति तथा प्रतिषिद्धवस्तुधर्मा निष्क्रियः पुरुषः। तिष्ठति बाणः स्थास्यति स्थित इति। गतिनिवृत्तौ धात्वर्थमात्रं गम्यते। तथा-

नुत्पत्तिधर्मा पुरुष इति। उत्पत्तिधर्मस्याभावमात्रमवगम्यते। न पुरुषान्वयी धर्मः। तस्माद्विकल्पितः स धर्मस्तेन चास्ति व्यवहार इति॥

अर्थ

वह (अर्थात् विकल्प) न तो प्रमाण के अन्तर्गत और न विपर्य्यय के। वस्तु (अर्थात् विषय) के न होने पर भी ऐसा व्यवहार देखा गया है कि जिस में शब्द और ज्ञान का ही माहात्म्य हो। मसलन् अगर यह कहा जाय कि पुरुष का स्वरूप चैतन्य है तो जब कि चितिही पुरुष है तो उस कथन से किस धर्म से किस का उपदेश किया गया। तो भी व्यपदेशवृत्ति होती है। जैसे चैत्र मनुष्य की गौ। ऐसे हो क्रिया रहित पुरुष है कि जिस में वस्तुओं के धर्म पाये नहीं जाते। पुनः बाण ठहरता है ठहरेगा, ठहरा हुआ है। गति न रहने पर केवल धातु का अर्थ ख़याल किया जाता है। तैसे ही उत्पत्ति धर्म रहित पुरुष है। इस में उत्पत्ति धर्म का केवल अभाव ख़याल किया गया है और वह पुरुष का धर्म नहीं है अतः वह आरोपित है और उसो से मतलब है॥

सूत्र १०

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा॥

अर्थ

अभाव (अर्थात् स्वप्न और जाग्रत वृत्तियों के अभाव) को आलम्बन किये हुए वृत्ति को निद्रा (कहते हैं)॥

भाष्य

सा च सम्प्रबोधे प्रत्यवमर्शात् प्रत्ययविशेषः। कथं? सुखमहम् स्वाप्सं। प्रसन्नं मे मनः प्रज्ञां मे विशारदीकरोति। दुःखमहम् स्वाप्सं। स्त्यानं मे मनो भ्रमत्यनवस्थितं। गाढ़-मोढ़ोऽहम् स्वाप्सं। गुरूणि मे गात्राणि। क्लान्तं मे चित्तमलसं मुषितमिव तिष्ठतीति। स खल्वयं प्रबुद्धस्य प्रत्यवमर्शो न स्यात् असति प्रत्यानुभवे। तदाश्रिताः स्मृतयश्च तद्विषया न स्युः। तस्मात् प्रत्ययविशेषो निद्रा। सा च समाधावितरप्रत्यय-वन्निरोद्धव्येति॥

अर्थ

वह (अर्थात् निद्रा वृत्ति) जागने पर स्मर्ण होने की वजह से प्रत्यय (वृत्ति) विशेष है। किस तरह पर? सुख से मैं सोया। प्रसन्न मेरा मन बुद्धि को निर्मल करता है। दुःख से (अर्थात् कलथना के साथ) मैं सोया। मेरा मन निकम्मा है कहीं लगता नहीं और घूमता है। गाढ़ी नींद मुझ को आई। मेरा शरीर भारी है। मेरा चित्त श्रम को प्राप्त आलस्य युक्त है और मानो उस का सत्व चुरा लिया गया है। यह स्मर्ण जागे हुए को अगर वृत्ति न हो तो न होवे और उस के आश्रित स्मृतियां भी उस विषय को न होवें। तिस से निद्रा प्रत्यय विशेष है। समाधि में अन्य प्रत्यय की नाईं इस को भी रोकना चाहिये॥

सूत्र ११

अनुभूतविषयाऽसम्प्रमोषः स्मृतिः॥

अर्थ

अनुभव किया हुआ विषय का अचौर्य्य (अर्थात् फिर वैसा हो चित्त में उपस्थित होना) स्मृति है॥

भाष्य

किं प्रत्ययस्य चित्तं स्मरति। आहोस्वित् विषयस्येति? ग्राह्योपरक्तः प्रत्ययो ग्राह्यग्रहणोभयाकारनिर्भासः तथाजातीयकं संस्कारमारभते। स संस्कारः स्वव्यंजकांजनं तदाकारामेव ग्राह्यग्रहणोभयात्मिकां स्मृतिं जनयति। तत्र ग्रहणाकारपूर्वा बुद्धिः। ग्राह्याकारपूर्वा स्मृतिः। सा च द्वयी। भावितस्मर्तव्या चाभावितस्मर्तव्या च। स्वप्ने भावितस्मर्तव्या। जाग्रतसमये त्वभावितस्मर्तव्येति। सर्वाः स्मृतयः प्रमाणविपर्य्ययविकल्प-निद्रास्मृतीनामनुभावात्प्रभवन्ति। सर्वाश्चैता वृत्तयः सुखदुःख-मोहात्मिकाः। सुखदुःखमोहाश्च क्लेशेषु व्याख्येयाः। सुखानुशयी रागः। दुःखानुशयी द्वेषः। मोहः पुनरविद्येति। एताः सर्वा वृत्तयो निरोद्धव्याः। आसां निरोधे सम्प्रज्ञातो वा समाधि-र्भवति। असम्प्रज्ञातो वेति। अथासां निरोधिक उपाय इति?

अर्थ

क्या चित्त प्रत्यय का स्मर्ण करता है वा विषय का? ग्राह्य (अर्थात् जिस का ग्रहण होय यानी वस्तु) में उपरक्त प्रत्यय कि जो ग्राह्याकार और ग्रहणाकार निर्भास है उसी क़िस्म का संस्कार आरम्भ करता है। और वह संस्कार अपने द्योतक के अनुरूप वैसी ही ग्राह्य और ग्रहणरूप स्मृति को पैदा करता है। इन में से ग्रहणाकार तो बुद्धि है और ग्राह्याकार स्मृति है। स्मृति फिर दो प्रकार की है एक भावितस्मर्तव्या (अर्थात् जिस का अनुभव कर लिया है उसी का स्मर्ण होवे) और अभावितस्मर्तव्या (पहिली का उलटा)। स्वप्नमें भावितस्मर्तव्या स्मृति होती है और जागने में अभावितस्मर्तव्या स्मृति होती है। जितनी स्मृति हैं वें प्रमाण विपर्य्यय विकल्प निद्रा और स्मृति के अनुभव से उत्पन्न होती हैं। और जितनी ये वृत्तियां हैं वे सुख दुःख और मोह रूप हैं। सुख दुःख और मोह का ज़िकर क्लेशों के बयान में किया जायगा। सुख को अनुशय करने वाला राग है। दुःख को अनुशय करने वाला द्वेष है और मोह अविद्या अर्थात् अज्ञान है। यह सब वृत्तियां रोकनी चाहियें और इन के रोकने पर सम्प्रज्ञात वा असम्प्रज्ञात समाधि होती है॥ अब इन के रोकने का क्या उपाय है?

सूत्र १२

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः॥

अर्थ

अभ्यास और वैराग्य से तिन वृत्तियों का निरोध होता है॥

भाष्य

चित्त नदीनामोभयतो वाहिनी। वहति कल्यानाय। वहति पापाय च। यातु कैवल्यप्रागभारा विवेकविषयनिम्ना साकल्यानवहा। संसारप्रागभाराऽविवेकविषयनिम्ना पापवहा। तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिलीक्रियते। विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत उद्घाट्यते इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोधः॥

अर्थ

चित्त रूपी नदी दो तरफ़ को वहने वाली है। एक तो कल्यान की तरफ़ वहती है और दूसरे पाप की तरफ़ वहती है। जो कैवल्यरूपी (अर्थात् मोक्ष) पर्वत से निकल कर विवेकविषय में वहती है वह कल्यान (श्रेय) को पहुंचती

है। और जो संसाररूपी पर्वत से निकल कर अविवेकविषय में बही चली जाती है वह पाप को पहुंचाती है। वैराग्य से विषयरूपी सोता रुक जाता है और विवेकदर्शन के अभ्यास से विवेकरूपी सोता निकल आता है। इस प्रकार इन दोनों के आधीन चित्त की वृत्तियों का निरोध है॥

सूत्र १३

तत्रस्थितौ यत्नोऽभ्यासः॥

अर्थ

उन दोनों में से स्थिति के अर्थ जो यत्न है उस को अभ्यास कहते हैं॥

भाष्य

चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिः। तदर्थं प्रयत्नः वीर्य्यमुत्साहः। तत्संपिपादयिषया तत्साधनानुष्ठानमभ्यासः॥

अर्थ

वृत्तिरहित चित्त की प्रशान्तता स्थित है। उस के अर्थ प्रयत्न वीर्य्य वा उत्साह है। उस के सम्पादन करने की इच्छा है उस के साधन के अनुष्ठान को अभ्यास कहते हैं॥

सूत्र १४

सतु दीर्घकाल नैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः॥

अर्थ

वह (अर्थात् अभ्यास) अगर मुद्दत तक किया जावे और विक्षेप होवे नहीं बल्कि आदर पूर्वक किया जावे तो दृढ़ होजाता है॥

भाष्य

दीर्घकालासेवितः निरन्तरासेवितः तपसा ब्रह्मचर्य्येण विद्यया श्रद्धया च सम्पादितः सत्कार वान् दृढ़भूमिर्भवति। व्युत्थान-संस्कारेण द्रागित्येवानभिभूतविषय इत्यर्थः॥

अर्थ

दीर्घ काल तक सेवन किया गया, लगातार सेवन किया गया और तप ब्रह्मचर्य्य विद्या और श्रद्धा से सम्पादित आदरपूर्वक अभ्यास दृढ़ होजाता है अर्थात् व्युत्थानसंस्कार से झट दब नहीं जाता है॥

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥

अर्थ

जिस चित्त की तृष्णा देखे (अर्थात् सब इन्द्रियों कर के) और सुने विषय से हट गई है तो उस को वशीकारनामी वैराग्य होता है ॥

भाष्य

स्त्रियोऽन्नपानमैश्वर्य्यमिति दृष्टविषयवितृष्णस्य स्वर्गवैदेह्य-प्रकृतिलयत्वप्राप्तावानुश्रविकविषये वितृष्णस्य दिव्यादिव्यविषय-संयोगेऽपि चित्तस्य विषयदोषदर्शिनः प्रसंख्यानबलादनाभो-गात्मिका हेयोपादेयशून्या वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥

अर्थ

स्त्री अन्न पान ऐश्वर्य्य दृष्टविषय हैं और स्वर्ग वैदेह्य प्रकृतिलयत्व आनुश्रविक (अर्थात् गुरू से सुने हुए) विषय हैं। इन दोनों प्रकार के विषयों की तृष्णा से रहित चित्त को कि जो विषयों के दोषों का देखने वाला है दिव्य और अदिव्य विषयों के मिलने पर भी विवेकबल से वशीकार नामी वैराग्य होता है कि जो भोगरहित्यरूप है और जिस में ग्रहण और त्याग नहीं है ॥ दृष्टविषय से मुराद सांसारिक विषय से है। संसार में जितने देहधारी हैं उन की दो २ देह होती हैं अर्थात् एक स्थूल और एक सूक्ष्म। जिस स्थान में देह-धारी स्थूल शरीर को त्याग कर के केवल सूक्ष्म शरीर ही रखते हैं उसे स्वर्ग कहते हैं और उत्तम इस वजह से है कि उस में स्थूल शरीर के दुख नहीं होते। देहाभ्यास से रहित होना विदेहता है और अपने शरीर को प्रकृति में लीन कर देने का नाम प्रकृतिलयत्व है। वैराग्य चार प्रकार का है एक यतमान दूसरा व्यतिरेक तीसरा एकेन्द्रिय और चौथा वशीकार। जिस २ विषय में इन्द्रिय लगती हैं उन २ विषयों में उन को न लग देने के लिये जो कोशिश है उस को यतमान वैराग्य कहते हैं। यह वैराग्य की प्रथम सिड्ढी है। इस कोशिश होने पर जिन विषयों से कि इन्द्रिय हट गईं उन में से एक २ का उन विषयों से मुकाबला कर के कि जिन से इन्द्रिय हटी नहीं निश्चय करने को

व्यतिरेक वैराग्य कहते हैं। जब इन्द्रिय प्रवृत्त होने में असमर्थ होजाती है तो विषय केवल मन में ही रहते हैं उस चित्त की अवस्था का नाम एकेन्द्रिय वैराग्य है। और जब दिव्य और अदिव्य विषय मौजूद होने पर भी जब यह चित्त में ख्वाहिश नहीं होती कि इस को ग्रहण करें और इस को छोड़ें अर्थात् जब चित्त में उपेक्षा हो जाती है तो वह वशीकार वैराग्य है॥

सूत्र १६

तत्परम पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यं ॥

अर्थ

वह वैराग्य पुरुषख्याति से परम अर्थात् आला दर्जे का होजाता है॥

भाष्य

दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी विरक्तः पुरुषदर्शनाभ्यासात्तच्छुद्धिप्रविवेकाप्यायितबुद्धिर्गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यो विरक्त इति। तत् द्वयंवैराग्यम्। तत्र यदुत्तरं तत् ज्ञानप्रसादमात्रं। यस्योदये प्रत्युदितख्यातिरेवं मन्यते। प्राप्तं प्रापणीयं। क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः। छिन्नः श्लिष्टपर्वा भवसंक्रमो। यस्याविच्छेदात् जनित्वा म्रियते मृत्वा च जायत इति। ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्। एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति॥ अथोपायद्वयेन निरुद्धचित्तवृत्तेः कथमुच्यते सम्प्रज्ञातः समाधिरिति॥

अर्थ

देखे और सुनें विषयों में दोष देखने वाला योगी विरक्त है अर्थात् पुरुषदर्शन के अभ्यास से उस दर्शन की शुद्धि (यानी रज और तम से रहित) होजाती है। तिस शुद्धि से प्रकर्ष विवेक (अर्थात् सत्वपुरुषान्यताख्याति) उत्पन्न होता है। उस प्रविवेक से सिंचित है बुद्धि जिस की ऐसा योगी व्यक्त (प्रगट) और अव्यक्त (गुप्त) धर्म वाले गुणों से विरक्त होजाता है॥ वह वैराग्य दो तरह का है। इन में से जो अन्तिम है वह केवल ज्ञानप्रसाद मात्र है यानी रजतम मल के दूर होने से ज्ञान मात्र चित्त का आश्रय रहजाता है और वह वैराग्य का फल रूप अनुग्रह है॥ जिस ज्ञान के उदय होने पर योगी कि जिस की ख्याति प्रत्युदित अर्थात् प्रकाशित हो गई है इस प्रकार ख्याल करता है कि

पाने लायक जो बात थी (अर्थात् कैवल्य) सो प्राप्त होगई क्योंकि चीण होने लायक क्लेश चीण होगये और संसार का आवागमन कि जो कसका जकड़ा हुआ था छिन्न होगया। जिस के छिन्न न होने से पैदा हो कर प्राणी मरता है और मर कर फिर पैदा होता है॥ ज्ञान को ही परम अवधि वैराग्य है और इस वैराग्य ही के बिना विक्षेप उपस्थित होना कैवल्य है॥ अब दोनों उपायों से उस योगी को कि जिस के चित्त की वृत्तियां निरुद्ध होगई हैं किस तरह से सम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है:—

सूत्र १७

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः ॥

अर्थ

वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता के स्वरूपों को विचार करने से सम्प्रज्ञात समाधि होती है॥

भाष्य

वितर्कः चित्तस्य आलम्बने स्थूल आभोगः। सूक्ष्मो विचारः। आनन्दो ह्लादः। एकात्मिकासंविदस्मिता। तत्र प्रथमः चतुष्टयानुगत. समाधि. सवितर्कः। द्वितीयो वितर्कविकलः सविचारः। तृतीयो विचारविकलः सानन्दः। चतुर्थस्तद्विकलः अस्मितामात्र इति। सर्व एते सालम्बनाः समाधयः॥ अथासम्प्रज्ञातसमाधिः किमुपायः किं स्वभावोवेति ?॥

अर्थ

स्वरूप साक्षात्कार करने वाली प्रज्ञा को आभोग कहते हैं। सो चित्त के आलम्बन (अर्थात् पञ्च भूत) का स्थूल आभोग वितर्क है। और सूक्ष्म (अर्थात् पञ्चतन्मात्रा, लिङ्ग÷ और अलिङ्ग विषय का) आभोग विचार संज्ञक है। इन्द्रियरूप जो स्थूल आलम्बन है उस के आभोग को आनन्द अर्थात् आल्हाद कहते हैं और आत्मा का बुद्धि के साथ एकरूपता का जो ज्ञान है वह अस्मिता है। इन में से पहिला आभोग कि जो चारों के अनुगत है सवितर्क समाधि

÷ इन का ज़िकर आगे होगा॥

कहलाता है ॥ दूसरा वितर्करहित सविचार समाधि है। तीसरा विचाररहित सानन्द समाधि है। और चौथा आनन्दरहित अस्मितामात्र समाधि है ॥ ये सब समाधि आलम्बन (अर्थात् सहारा) युक्त हैं ॥ अब असम्प्रज्ञात समाधि किस उपाय व स्वभाववाली है ?

सूत्र १८

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥

अर्थ

जिस का उपाय विराम प्रत्यय (वृत्तियों का अभावरूप प्रत्यय) का अभ्यास है और जिस में चित्त केवल संस्कारमात्र रहजाता है वह अन्य समाधि असम्प्रज्ञात है ॥

भाष्य

सर्ववृत्तिप्रत्यस्तमये संस्कारशेषो निरोधश्चित्तस्य समाधिरसम्प्रज्ञातः। तस्य परं वैराग्यमुपायः। सालम्बनो ह्यभ्यासस्तत् साधनाय न कल्पते इति। विरामप्रत्ययो निर्वस्तुक आलम्बनीक्रियते। स चार्थशून्यः। तदभ्यासपूर्वकं हि चित्तं निरालम्बनमभावप्राप्तमिवभवति इत्येष निर्बीजः समाधिरसम्प्रज्ञातः ॥ स खल्वयं द्विविधः। उपायप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च। तत्रोपायप्रत्ययो योगिनां भवति ॥

अर्थ

सब वृत्तियों के रुकजाने पर चित्त का जो संस्कारशेष (अर्थात् जिस में चित्त का संस्कार केवल शेष रहजावे और चित्त की चित्तता कुल जाती रहे) निरोध है वह असम्प्रज्ञात समाधि है और उस का परम वैराग्य उपाय है क्योंकि सालम्बन अभ्यास उस के साधन के लिये नहीं शुमार किया जाता है। उस के लिये निर्वस्तुक विरामप्रत्ययको (वृत्तियों का अभावरूप प्रत्यय) आलम्बन किया जाता है और वह प्रत्यय अर्थशून्य है ॥ इस प्रत्यय के अभ्यास करते २ चित्त आलम्बनरहित अर्थात् अभाव को प्राप्त होजाता है। यह निर्बीज समाधि असम्प्रज्ञात है ॥ सो दो प्रकार की है एक उपायप्रत्यय और दूसरी भवप्रत्यय। इन में से उपायप्रत्यय योगियों की होती है ॥

सूत्र १९

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥

अर्थ

भवप्रत्यय विदेह (अर्थात् जिन को देह का अभ्यास नहीं) और प्रकृति-लयों (अर्थात् जिन्होंने अपनी देह की प्रकृति में लय कर दिया को होती है ॥

भाष्य

विदेहानां देवानां भवप्रत्ययः। ते हि स्वसंस्कारमात्रोपयोगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कारविपाकं तथा-जातीयकमतिवाहयन्ति। तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतौ लीने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति यावन्न पुनरावर्तते अधि-कारवशाच्चित्तमिति ॥ उपायप्रत्ययो योगिनां भवति ॥

अर्थ

विदेह देवताओं को भवप्रत्यय समाधि होती है। क्योंकि वे संस्कार-मात्र साधन युक्त चित्त से मानो कैवल्यपद को भोगते हुए उसी क़िस्म के अपने संस्कार के विपाक को अतिक्रमण करते हैं अर्थात् फिर संसार में आते हैं। तैसेही प्रकृतिलय देवता अधिकार युक्त चित्त को प्रकृति (अर्थात् चित्त के कारण) में लय कर देते हैं और फिर मानो कैवल्यपद का अनुभव तब तक करते हैं जब तक कि फिर चित्त अधिकार के वश से (संसार की तरफ़) लौट नहीं आता ॥ उपाय प्रत्यय समाधि योगियों को होती है ॥

सूत्र २०

श्रद्धावीर्य्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्॥

अर्थ

उपायप्रत्यय समाधि जिस के लिये प्रथम श्रद्धा करने होती है और फिर उस से वीर्य्य उत्पन्न होता है वीर्य्य से स्मृति, स्मृति से समाधि, समाधि से प्रज्ञा, अन्य देवताओं को होती है ॥

भाष्य

श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः। सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति। तस्य हि श्रद्धधानस्य विवेकार्थिनो वीर्य्यमुपजायते।

समुपजातवीर्य्यस्य स्मृतिरुपतिष्ठते। स्मृत्युपस्थाने च चित्त-मनाकुलं समाधीयते। समाहितचित्तस्य प्रज्ञा विवेक उपावर्तते। येन यथावद्वस्तु जानाति। तदभ्यासात् तद्विषयाच्च वैराग्याद-सम्प्रज्ञातः समाधिर्भवति॥ ते खलु नवयोगिनो मृदुमध्याधि-मात्रोपाया भवन्ति। तद्यथा मृदूपायो मध्योपायोऽधिमात्रो-पाय इति॥

अर्थ

श्रद्धा अभिरुचि अर्थात् अतीच्छा को कहते हैं। जब योग की अतीच्छा होती है तो चित्त का सम्प्रसाद होता है। क्योंकि श्रद्धा माता की नाईं कल्याण करने वाली योगी की रक्षा करती है। जिस पुरुष में श्रद्धा होती है अर्थात् जो पुरुष विवेक का अर्थी है उस में फिर वीर्य्य अर्थात् उत्साह उत्पन्न होजाता है फिर उस से स्मृति ठीक रहती है और स्मृति के ठीक रहने से चित्त को समाधि विक्षेपरहित होती है। समाधि युक्त चित्त को फिर प्रज्ञा अर्थात् विवेक होता है कि जिस्से यथावत वस्तु को जान लेता है। इस विवेक के अभ्यास करने और तद्विषयक् वैराग्य होने से असम्प्रज्ञात समाधि होती है। वे नये योगी मृदु मध्य और अधिमात्र उपाय वाले होते हैं॥ अर्थात् मृदूपाय, मध्योपाय और अधिमात्रोपाय ?

सूत्र २१

तीव्रसंवेगानामासन्नः॥

अर्थ

तीव्रसंवेग वालों को समाधि आसन्नतम यानी निकट है॥

भाष्य

तत्र मृदूपायोऽपि त्रिविधः। मृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्र-संवेग इति। तथा मध्योपायस्तथाधिमात्रोपाय इति। तत्राधि-मात्रोपायानां समाधिलाभः समाधिफलञ्च भवतीति॥

अर्थ

इन तीनों उपाय वालों में से मृदुपाय भी तीन प्रकार का है अर्थात् मृदुसंवेग मध्यसंवेग और तीव्रसंवेग। इसी तरह पर मध्योपाय और अधिमात्रो-पाय भी हैं। तिन में से अधिमात्रोपाय वालों को समाधि और उस का फल होता है॥

सूत्र २२

मृदुमध्याधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः ॥

अर्थ

मृदु मध्य और अधिमात्रता की वजह से उस से भी अधिक लाभ होता है ॥

भाष्य

मृदुतीव्रो मध्यतीव्रोऽधिमात्रतीव्र इति । ततोऽपि विशेषः । मृदुतीव्रसंवेगस्यासन्नः । ततो मध्यतीव्रसंवेगस्यासन्नतरः । तस्माद धिमात्रतीव्रसंवेगस्याधिमात्रोपायस्याप्यासन्नतमः समाधिलाभः समाधिफलँचेति ॥ किमेतस्मादेवासन्नतमः समाधिर्भवति अथास्य लाभे भवत्यन्योऽपि कश्चिदुपायो न वा इति ॥

अर्थ

मृदुतीव्र, मध्यतीव्र, अधिमात्रतीव्र होने से आसन्न से भी विशेष फल होता है। अर्थात् मृदुतीव्रसंवेगवाले को आसन्न अर्थात् समीप है उस्से मध्यतीव्रसंवेग वाले को आसन्नतर है और अधिमात्रतीव्रसंवेगवाले और अधिमात्रोपाय वाले को आसन्नतम यानी सब से अधिक समीप समाधिलाभ और समाधिफल होता है ॥ क्या इसी से ही आसन्नतम समाधि होती है अथवा कोई और भी उपाय इस की प्राप्ति का है या नहीं ॥

सूत्र २३

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥

अर्थ

ईश्वर की विशेषभक्ति से भी ॥

भाष्य

प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिधानमात्रेण । तदभिध्यानमात्रादपि योगिनआसन्नतरः समाधिलाभः फलँचभवतीति ॥ अथप्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः कोयमीश्वरोनामेति ॥

अर्थ

प्रणिधान अर्थात् विशेष भक्ति से अभिमुख होकर ईश्वर उस भक्तिमान् पुरुष पर (मानसिक) आशीर्वाद द्वारा कृपा करता है और उस अभिध्यानमात्र से ही योगी को आसन्नतर समाधिलाभ और फल होता है। तात्पर्य्य यह है कि यदि किसी पुरुष में श्रद्धादि न हो तो वह पहिले ईश्वर की भक्ति विशेष करे। उस को करते २ उस में श्रद्धादि उत्पन्न होजावेगी और फिर समाधि का लाभ और फल होगा॥ अब प्रश्न यह है कि प्रधान अर्थात् प्रकृति (यानी जगत् का कारण) और पुरुष (अर्थात् आत्मा) से भिन्न ईश्वर जिस का नाम ऐसा कौन है ?

सूत्र २४

क्लेशकर्म्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः॥

अर्थ

क्लेश कर्म विपाक और आशय से रहित पुरुष विशेष ईश्वर है॥

भाष्य

अविद्यादयः क्लेशाः। कुशलाकुशलानि कर्माणि। तत्फलं विपाकः। तदनुगुणा वासना आशयाः। ते च मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते। स हि तत्फलस्य भोक्तेति। यथा जयः पराजयो वा योद्धषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते। योह्यनेन भोगेनाऽपरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः। कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः। ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्वा कैवल्यं प्राप्ताः। ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी। यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य। यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यते नैवमीश्वरस्य। स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति॥ योऽसौ प्रकृष्टसत्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिकः उत्कर्षः स किं सन्निमित्तः आहोस्विन्निर्निमित्तः इति। तस्य शास्त्रं निमित्तं। शास्त्रं पुनः किं निमित्तं।

प्रकृष्टसत्वनिमित्तं। एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्वे वर्तमान-योरनादिः सम्बन्धः। एतस्मादेतद्भवति। सदैवेश्वरः। सदैवमुक्त इति। तच्च तस्यैश्वर्य्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तं। न तावदैश्वर्य्या-न्तरेण तदतिशय्यते। यदेवातिशयी स्यात्तदेव तत्स्यात्। तस्माद् यत्र काष्टाप्राप्तिरैश्वर्य्यस्य स ईश्वरः। न च तत्समानमैश्वर्य्यमस्ति। कस्मात्? द्वयोरेकस्मिन् युगपत्कामितेऽर्थे नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्त्विति एकस्य सिद्धावितरस्य प्राकाम्यविघातादूनत्वं प्रसक्तं। द्वयोश्च तुल्ययोर्युगपत्कामितार्थप्राप्तिर्नास्ति। अर्थस्य विरुद्धत्वात्। तस्मात् यस्य साम्यातिशयविनिर्मुक्तमैश्वर्य्यं स ईश्वरः। स च पुरुष विशेष इति॥ किंच

अर्थ

अविद्या आदि पांच क्लेश हैं। अच्छे और बुरे कर्म हैं। इन कर्मों का फल विपाक है। और उस के अनुसार जो वासना हैं वे आशय हैं। वे वासना मन में रहती हैं और पुरुष को लगाई जाती हैं। क्योंकि वह उन के फल का भोग करने वाला है। जैसें जीत और हार सिपाहियों की होती है परन्तु उन के मालिक को लगाई जाती है। जो इस भोग से अलहदह है वह पुरुष विशेष ईश्वर है॥ बहुत से मुक्त पुरुष भी तो कैवल्य को प्राप्त हुए हैं। वे तीन बन्धनों (अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक) को काट कर कैवल्य को पहुंचें हैं। ईश्वर का वह सम्बन्ध नतो था और न होगा। जैसें मुक्त पुरुष पहिले बन्धन में था उस तरह ईश्वर नहीं, अथवा जैसे प्रकृति लीन देवता को बाद में बन्ध है उस प्रकार ईश्वर को नहीं। वह तो हमेशः मुक्त और हमेशः ईश्वर है॥ जो यह प्रकृष्ट (अर्थात् रज और तम रूपी मल रहित) सत्व के होने से ईश्वर का हमेशः का उत्कर्ष अर्थात् श्रेष्ठता है वह क्या निमित्तयुक्त है या उस से रहित है? उस (उत्कर्ष) का शास्त्र निमित्त है और शास्त्र किस निमित्त है? प्रकृष्ट सत्व होने के लिये। इन दोनों अर्थात् शास्त्र और उत्कर्ष का कि जो ईश्वर सत्व में मौजूद हैं अनादि सम्बन्ध है। इस से यह होता है। कि वह सदैव ईश्वर है और सदैव मुक्त है॥ फिर ईश्वर का वह ऐश्वर्य्य ऐसा है कि न तो कोई उस के बराबर है और न बढ़कर। अव्वल उस से कोई बढ़कर नहीं है। अगर बढ़कर है तो वह ही है। तिस से जिस में

ऐश्वर्य्य की परम अवधि प्राप्त है वह ईश्वर है॥ दोयम उस के समान भी ऐश्वर्य्य नहीं है क्योंकि जब दोनों को एक ही अर्थ की कामना एकदम होवे तौ यह नया होजाय, यह पुराना होजाय, इन में से एक की सिद्धि होने पर दूसरे की इच्छा का घात होता है जिस से उस को न्यूनता प्राप्त होती है। और यदि दो ईश्वर बराबरी वाले हों तौ दोनों को एक ही समय में बांछित अर्थ की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि अर्थ में बिरोधता है। इसलिये जिस के ऐश्वर्य्य की बराबरी या उस से आधिक्यता न होवे वह ईश्वर है और वह पुरुष विशेष है॥ और भी

सूत्र २५

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजं॥

अर्थ

उस ईश्वर में सर्वज्ञता की मूल है और वह सर्वज्ञता ऐसी है कि उस से आधिक्यता नहीं हो सक्ती॥

भाष्य

यदिदमतीतानागतप्रत्युत्पन्नप्रत्येकसमुच्चयातीन्द्रियग्रहणमल्पं बह्विति सर्वज्ञबीजमेतद्विवर्द्धमानं यत्र निरतिशयं स सर्वज्ञः। अस्ति काष्टाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य सातिशयत्वात् परिमाणवदिति। यत्र काष्टाप्राप्तिर्ज्ञानस्य सः सर्वज्ञः। स च पुरुषविशेष इति। सामान्यमात्रोपसंहारे कृतोपक्षयमनुमानं न विशेषप्रतिपत्तौ समर्थमिति। तस्य संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिरागमतः पर्य्यन्वेष्या। तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनं। ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामिति। तथा चोक्तम् आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तंत्रं प्रोवाचेति॥ स एषः

अर्थ

जो यह अतीत अनागत वर्तमान अलग २ व इकट्ठा और इन्द्रियों से अग्राह्य ज्ञान थोड़ा और बहुत है सो सर्वज्ञता का बीज जिस में इतना बढ़ा हुआ होवे कि फिर उस से अधिक न हो सकै तौ वह सर्वज्ञ है। सर्वज्ञता के

बीज की अवधि होती है अधिक २ होने की वजह से परिमाण की नाईं। जिस में ज्ञान की अवधि है वह सर्वज्ञ है और वह पुरुष विशेष है। सामान्य मात्र कथन को समाप्ति पर अनुमान से कि जिस का विषय समाप्त होगया है विशेष बातों का ज्ञान नहीं हो सक्ता। उस ईश्वर की संज्ञा आदि विशेष ज्ञान आगम अर्थात् वेदों से खोजना चाहिये। अपना कोई मतलब न होने पर भी सब प्राणियों पर अनुग्रह करना उस का प्रयोजन है। क्योंकि ऐसा वचन है कि मैं ज्ञान और धर्म के उपदेश से कल्प प्रलय और महाप्रलय में संसारी पुरुषों का उद्धार करूंगा। और ऐसा ही पंचशिख ने कहा है कि आदि विद्वान परमर्षि भगवान ने निर्मित चित्त को स्वीकार करके आसुरी को कि जिस को ज्ञान प्राप्ति की कांक्षा थी तंत्र अर्थात् शास्त्र का उपदेश किया॥ वह यह

सूत्र २६

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्॥

अर्थ

पूर्व ऋषियों का गुरु है क्योंकि उस का काल से अवच्छेद नहीं होता॥

भाष्य

पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छिद्यन्ते। यत्रावच्छेदार्थेन कालोनोपावर्तते स एष पूर्वेषामपि गुरुः यथास्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धः तथातिक्रान्तसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः॥

अर्थ

क्योंकि पहिले गुरुओं (अर्थात् ऋषि मुनियों) का काल से अवच्छेद हुआ है। जिस में काल से अवच्छेद (विलग होना) न हो वह यह (ईश्वर) पूर्व ऋषियों का भी गुरु है और जैसें इस का प्रकर्ष ज्ञान से इस सर्ग की आदि में होना सिद्ध है इसी तरह पर सर्गादि के अन्त में भी यकीन करना चाहिये॥

सूत्र २७

तस्य वाचकः प्रणवः॥

अर्थ

उस (ईश्वर) का प्रकाशक प्रणव अर्थात् ओं (उत्तम स्तुति का साधन शब्द) है॥

भाष्य

वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य। किमस्य संकेतकृतं वाच्यवाचकत्वं। अथ प्रदीपप्रकाशवदवस्थितमिति। स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सह सम्बन्धः। सङ्केतस्त्वीश्वरस्य स्थितमेवार्थमभिनयति। यथावस्थितः पितापुत्रयोः सम्बन्धः सङ्केतेनावद्योत्यते। अयमस्य पिता। अयमस्य पुत्र इति। सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव सङ्केतः क्रियते। सम्प्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थसम्बन्ध इत्यागमिनः प्रतिजानते। विज्ञातवाच्यवाचकत्वस्य योगिनः

अर्थ

प्रणव का वाच्य (अर्थात् जो जताया जाय) ईश्वर है। अब सवाल है कि क्या इस का वाच्य और वाचक पन केवल संकेतमात्र है अथवा प्रदीप और प्रकाश की नाईं हमेशः रहने वाला है। इस वाच्य का वाचक के साथ हमेशः रहने वाला सम्बन्ध है॥ ईश्वर का किया हुआ संकेत तो हमेशः रहने वाले अर्थ को ही ज़ाहर करता है। जैसें अवस्थित पिता और पुत्र का सम्बन्ध संकेत से ज़ाहर होता है कि यह इस का पिता है यह इस का पुत्र है तैसें ही सर्गान्तरों में भी संकेत कि जिस में वाच्य और वाचक शक्ति को अपेक्षा हो किया जाता है। सदृश व्यवहार की परम्परा से शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है केवल वेद के मानने वाले कहते हैं परन्तु जाना हुआ वाच्य और वाचक का सम्बन्ध योगी लोग कहते हैं॥

सूत्र २८

तज्जपस्तदर्थभावनम्॥

अर्थ

उस (प्रणव) का जप और उस के अर्थ की भावना (करै)॥

भाष्य

प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावनं। तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थंच भावयतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते। तथाचोक्तं स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमापतेत्।

स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशत इति ॥ किंचास्य भवति ?

अर्थ

प्रणव का जप और प्रणव कर के ज़ाहर किये गये ईश्वर की भावना अर्थात् चित्त में बार २ जमाना। तिस से इस योगी का चित्त कि जो प्रणव जपता है और प्रणव के अर्थ को भावना करता है एकाग्र होजाता है और तैसा ही कहा भी है कि:—

स्वाध्याय (अर्थात् जप अथवा मोक्ष शास्त्रों का अध्ययन) से लोग योग को प्राप्त होवें और योग से स्वाध्याय को। स्वाध्याय और योग की सम्पत्ति से परमात्मा प्रकाशित होता है॥

यह व्यासजी की गाथा है और यह उस समय कही गई है जब कि महाभारत के बाद यह विचार कर कि लोगों को सत्य अर्थ मालूम रहै व्यासजी ने जाबजा जाकर उपदेश किया है॥

तो उस योगी को क्या होता है ?

सूत्र २९

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च॥

अर्थ

तिस से प्रत्यक्चेतन् अर्थात् पुरुष वा आत्मा का साक्षात् कार होता है और अन्तराय (विक्षेप) का अभाव होता है॥

भाष्य

ये तावत् अन्तरायाः व्याधिप्रभृतयः ते तावदीश्वरप्रणिधानान्न भवन्ति। स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति। यथैवेश्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवलोऽनुपसर्गः तथायमपि बुद्धेः प्रतिसंवेदीयः पुरुषः इति एवं अधिगच्छति॥

अथ केऽन्तरायाः ? ये चित्तस्य विक्षेपाः। के पुनस्ते, कियन्तोवेति ?

अर्थ

प्रथम जितने व्याधि को आदि लेकर अन्तराय (अन्तर को जो करै अथवा जिस से अन्तर वा भेद को प्राप्त हो वह अन्तराय है) हैं वे ईश्वर को

विशेष भक्ति से नहीं होते फिर स्वरूप का दर्शन भी उस को होता है। जैसें ईश्वर पुरुष (जो पूरित हो वह पुरुष) है शुद्ध (अर्थात् अविद्या रहित) है प्रसन्न (क्लेशादि रहित) है केवल (निर्धर्मक यानी विशेषणों कर के रहित) है और अनुपसर्ग (मन आदि उपाधियों से रहित) है तैसें ही बुद्धि का प्रत्यक अर्थात् अन्तर रूप कर के जानने वाला पुरुष है यह जान लेता है। अब अन्तराय कौन हैं ? जो चित्त के विक्षेप हैं। वे फिर कौन हैं और कितने हैं ?

सूत्र ३०

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥

अर्थ

व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थितत्व चित्त के विक्षेप हैं वे अन्तराय (कहलाते) हैं ॥

भाष्य

नवान्तरायाश्चित्तस्य विक्षेपाः। सहैते चित्तवृत्तिभिर्भवन्ति। एतेषामभावे न भवन्ति पूर्वोक्ताश्चित्तवृत्तयः। व्याधिर्धातुरसकरणवैषम्यं। स्त्यानं अकर्मण्यता चित्तस्य। संशयः उभयकोटिस्पृक्विज्ञानं, स्यादिदं एवं, नैवं स्यादिति। प्रमादः समाधिसाधनानामभावनं। आलस्यं कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः। अविरतिः चित्तस्य विषयसंप्रयोगात्मा गर्द्धः। भ्रान्तिदर्शनं विपर्य्ययज्ञानं। अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरलाभः। अनवस्थितत्वं यल्लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा समाधिप्रतिलम्भे हि सति तदवस्थितं स्यादिति। एते चित्तविक्षेपाःनव, योगमलाः योगप्रतिपक्षा योगान्तराया इत्यभिधीयन्ते ॥

अर्थ

अन्तराय चित्त के विक्षेप हैं और ये चित्त की वृत्तियों के साथ होते हैं। चित्त की वृत्तियों के अभाव होने पर पूर्व कथित चित्त की वृत्तियां नहीं होतीं।

व्याधि धातु रस और करण की विषमता को कहते हैं। धातु वात पित्त और कफ़ हैं। खाये पीये हुए आहार का परिणाम विशेष रस है। और करण इन्द्रिय को कहते हैं। चित्त की कर्म करने की अयोग्यता स्त्यान है। दोनों कोटि को छूता हुआ विज्ञान यानी शायद यह ऐसे है या नहीं है संशय है। समाधि के साधनों की अभावना प्रमाद है। शरीर और चित्त के भारी होने से जो अप्रवृत्ति है वह आलस्य है। विषय भोग रूप जो चित्त की तृष्णा है वह अविरति है॥ भ्रान्तिदर्शन विपरीत ज्ञान को कहते हैं और अलब्धभूमिकत्व समाधि भूमि का अलाभ है। भूमि प्राप्त होने पर जो चित्त की अप्रतिष्ठा है यानी समाधि प्राप्त होने पर चित्त का अवस्थित न रहना अनवस्थितत्व है। ये चित्त के विक्षेप नो हैं और योग के मल अथवा योग शत्रु वा योग के अन्तराय कहलाते हैं॥

सूत्र ३१

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा: विक्षेपसहभुवः॥

अर्थ

दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास विक्षेप के साथ उत्पन्न होने वाले हैं॥

भाष्य

दुःखमाध्यात्मिकं आधिभौतिकं आधिदैविकंच। येनाभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते तत् दुःखं। दौर्मनस्यं इच्छाविघाताच्चेतसः क्षोभः। यदाङ्गमेजयति कम्पयति तदङ्गमेजयत्वं। प्राणो यद्बाह्यं वायुमाचामति स श्वासः। यत्कौष्ठ्यं वायुं निःसारयति स प्रश्वासः। एते विक्षेपसहभुवः। विक्षिप्तचित्तस्यैते भवन्ति। समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति॥ अथैते विक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षाः ताभ्यामेवाभ्यासवैराग्याभ्याम् निरोद्धव्याः। तत्राभ्यासस्य विषयमुपसंहरन्निदमाह।

अर्थ

दुःख तीन प्रकार का है अर्थात् आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक। शरीर में व्याधि के वश जो दुःख होता है उस को आध्यात्मिक कहते हैं।

कामादि वश जो मन में दुःख होता है उस को आधिभौतिक कहते हैं और आधिदैविक वह है जो व्याघ्रादिजनित है ॥ जिस से अभिहत होकर प्राणी उस के दूर करने का यत्न करता है उसे दुःख कहते हैं अर्थात् प्रतिकूलवेदना दुःख है। इच्छा के घात से जो चित्त का क्षोभ है उसे दौर्मनस्य कहते हैं। जो अङ्ग को कपावे उस को अङ्गमेजयत्व कहते हैं। जो बाहर की हवा को प्रवेश करता है वह श्वास है। और जो भीतर की पवन को बाहर निकालता है वह प्रश्वास है। ये विक्षेप के साथ उत्पन्न होते हैं। ये विक्षिप्त चित्त को होते हैं। और समाहित चित्त को नहीं होते ॥

अब ये विक्षेप समाधि के प्रतिपक्ष अर्थात् शत्रु हैं। अभ्यास और वैराग्य से कि जिन का ज़िकर पहिले होचुका है रोके जाते हैं। इन दोनों में से अभ्यास के विषय को समाप्त करने की ग़रज़ से पतञ्जलिजी ने अगाड़ी का सूत्र कहा है ॥

सूत्र ३२

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्वाभ्यासः ॥

अर्थ

उन के (अर्थात् अन्तराय और विक्षेपसहभुव) प्रतिषेध के लिये एक तत्व (अर्थात् ईश्वर) का अभ्यास यानी भावना (करे) ॥

भाष्य

विक्षेपप्रतिषेधार्थमेकतत्वावलम्बनं चित्तमभ्यसेत। यस्य तु प्रत्यर्थनियतं प्रत्ययमात्रं क्षणिकंच चित्तं तस्य सर्वमेव चित्तं एकाग्रं नास्त्येव विक्षिप्तं। यदि पुनरिदं सर्वतः प्रत्याहृत्य एकस्मिन्नर्थे समाधीयते तदाभवत्येकाग्रमित्यतो न प्रत्यर्थनियतं। योऽपि सदृशप्रत्ययप्रवाहेन चित्तमेकाग्रं मन्यते तस्यैकाग्रता यदि प्रवाहचित्तस्य धर्मः तदैकं नास्ति प्रवाहचित्तं क्षणिकत्वात्। अथ प्रवाहांशस्यैव प्रत्ययस्य धर्मः स सर्वः सदृशप्रत्ययप्रवाही वा विसदृशप्रत्ययप्रवाही वा प्रत्यर्थनियतत्वादेकाग्र एवेति विक्षिप्तचित्तानुपपत्तिः। तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं चित्तमिति। यदि च चित्तेनैकेनान्विताः स्वभावभिन्नाः प्रत्यया जायेरन् अथ

कथमन्यप्रत्ययदृष्टस्यान्यः स्मर्ता भवेत्, अन्यप्रत्ययोपचितस्य कर्माशयस्यान्यः प्रत्यय उपभोक्ता भवेत्। कथंचित् समाधीय- मानमप्येतद्गोमयपायसीयं न्यायमाक्षिपति ॥ किंच स्वात्मानु- भवापह्नवः चित्तस्यान्यत्वे प्राप्नोति। कथं यदहमद्राक्षं तत् स्पृशामि यच्चास्प्राक्षं तत्पश्यामि। अहमिति प्रत्ययः सर्वस्य प्रत्ययस्य भेदे सति प्रत्ययिन्यभेदेनोपस्थितः एक प्रत्ययविषयोयं अभेदात्मा अहमिति प्रत्ययः कथं अत्यन्तभिन्नेषु चित्तेषु वर्तमानः सामान्यमेकं प्रत्ययिनमाश्रयेत्। स्वानुभवग्राह्यश्चायं अभेदात्मा अहमिति प्रत्ययः। न च प्रत्यक्षस्य माहात्म्यं प्रमाणान्तरेणा- भिभूयते। प्रमाणान्तरंच प्रत्यक्षबलेनैव व्यवहारं लभते। तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितंच चित्तं ॥ यस्य चित्तस्यावस्थितस्येदं शास्त्रेण परिकर्म निर्दिश्यते तत् कथं ?

अर्थ

विक्षेप के प्रतिषेध के अर्थ एकतत्व आश्रय वाले चित्त का अभ्यास करे। जिस का यह मत है कि चित्त पृथक् पृथक् अर्थ में लगने वाला है व प्रत्यय-मात्र और क्षणिक है उस को सब ही चित्त एकाग्र है और विक्षिप्त है ही नहीं। परन्तु जो यह सब ही तरफ़ से अलहदा कर के एक ही अर्थ में लगायाजाता है तो एकाग्र होजाता है इसलिये प्रत्यर्थ नियत (अर्थात् पृथक् पृथक् अर्थ में लगने वाला) नहीं। और जो सदृश प्रत्यय के प्रवाह से चित्त को एकाग्र मानें तो जो एकाग्रता प्रवाह चित्त का धर्म है तो वह प्रवाह चित्त एक नहीं है क्योंकि चित्त क्षणिक माना है। अब प्रवाहांश रूप प्रत्यय ही का धर्म है तो वह सब सदृश प्रत्यय प्रवाही वा विसदृश प्रत्यय प्रवाही प्रत्यर्थ नियत होने की वजह से एकाग्र ही है जिस से विक्षिप्त चित्त है ही नहीं। इसलिये चित्त एक है और उस के विषय अनेक हैं और स्थाई है अर्थात् क्षणिक नहीं। और जो एक चित्त से स्वतन्त्र स्वभाव भिन्न प्रत्यय उत्पन्न होवे तो अन्यप्रत्यय से जाने हुए अर्थ का स्मर्ण करने वाला अन्य प्रत्यय कैसे होवे, अन्य प्रत्यय से सम्पादित अर्थ का अन्य प्रत्यय उपभोक्ता कैसे होवे। यद्यपि इस का किसी क़दर समा- धान होता है तथापि वह न्याय गोमयपायसी की नाईं है। और भी देखो

कि यदि चित्त की अन्यता मानी जावे तो अपनी आत्मा के अनुभवों का दूरी कारण होता है। किस तरह ? इस तरह—जो मैंने देखा उस को मैं छूता हूं। जिस को मैंने छुआ उस को मैं देखता हूं। अहम् (अर्थात् मैं) जो यह प्रत्यय है वह सब अन्य प्रत्ययों में भेद होनें पर भी प्रत्ययनी के अभेद के साथ उपस्थित है। और एक प्रत्यय विषय वाला, अभेद रूप अत्यन्त भिन्न चित्तों में वर्तमान सामान्य एक प्रत्ययी का किस तरह आश्रयभूत होवे ? अहम् प्रत्यय अपने अनुभव से ग्राह्य और अभेद रूप है। और प्रत्यक्ष का माहात्म्य दूसरे प्रमाण से रद्द नहीं होता। अन्य प्रमाण तो प्रत्यक्ष के बल से ही व्यवहार को प्राप्त होते हैं। इसलिये चित्त अभिन्न, अप्रत्यर्थनियत और अक्षणिक है॥

अब अवस्थित चित्त का जो यह शोधन शास्त्र ने कहा है वह किस तरह पर है ?

सूत्र ३३

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥

अर्थ

सुख दुःख पुण्य और पाप वालों के साथ मित्रता करुणा प्रसन्नता और उपेक्षा की भावना करने से चित्त की प्रसन्नता होती है॥

भाष्य

तत्र सर्वप्राणिषु सुखसम्भोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत्। दुःखितेषु करुणां। पुण्यात्मकेषु मुदितां। अपुण्यशीलेषूपेक्षाम्। एवमस्यभावयतः शुक्लो धर्म उपजायते। ततश्चित्तं प्रसीदति। प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते॥

अर्थ

सब प्राणियों के साथ कि जो सुख सम्भोग से सम्पन्न हैं मित्रता की भावना करे अर्थात् उन से डाह न करे। दुःखियों पर दया रक्खे। पुण्यात्माओं पर प्रसन्नता। और पापियों से उपेक्षा अर्थात् कुछ मतलब नहीं। इस तरह पर जो भावना करता है उस को शुक्ल धर्म (अर्थात् रजो और तमो गुण से अलहदह यानो सात्विकी) उत्पन्न होता है जिस से चित्त प्रसन्न होता है फिर एकाग्र होकर स्थित होजाता है। एकाग्र होने के उपाय अगाड़ी लिखे हैं;—

सूत्र ३४

प्रच्छर्द्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥

अर्थ

प्राण के चढ़ाने उतारने से ॥

भाष्य

कौष्ठस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषात् वमनं प्रच्छर्द्दनं। विधारणं प्राणायामः। ताभ्यां वा मनसः स्थितिं सम्पादयेत् ॥

अर्थ

नकुनों में से श्वास कोशिश कर के अन्दर की पवन का निकालना प्रच्छर्द्दन है और निकली हुई वायु को बाहर ही रोके रहना (जितना कि होसके) प्राणायाम है। इन दोनों बातों से मन की स्थिति करे ॥

सूत्र ३५

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति-निबन्धनी ॥

अर्थ

उत्पन्न विषयवती प्रवृत्ति भी मन की स्थिति का कारण होती है ॥

भाष्य

नासिकाग्रे धारयतोस्य या दिव्यगन्धसंवित्सा गन्धप्रवृत्तिः। जिह्वाग्रे रससम्वित्। तालुनि रूपसम्वित्। जिह्वामध्ये स्पर्श-सम्वित्। जिह्वामूले शब्दसम्वित्। इत्येताः प्रवृत्तय उत्पन्ना-श्चित्तं स्थितौ निबध्नन्ति, संशयं विधमन्ति, समाधिप्रज्ञायांच द्वारीभवन्तीति। एतेन चन्द्रादित्यग्रहमणिप्रदीपरश्म्यादिषु प्रवृत्तिरुत्पन्ना विषयवत्येव वेदितव्या। यद्यपि हि तच्छास्त्रानुमा-नाचार्य्योपदेशैरवगतमर्थंतत्वं सद्भूतमेव भवति, एतेषां यथा-भूतार्थप्रतिपादनसामर्थ्यात्, तथापि यावदेकदेशोऽपि कश्चिन्न

स्वकरणसम्वेद्यो भवति तावत् सर्वं परोक्षमिव अपवर्गादिषु सूक्ष्मेष्वर्थेषु न दृढ़ां बुद्धिमुत्पादयति। तस्माच्छास्त्रानुमाना-चार्य्योपदेशोपोद्वलनार्थमेवावश्यं कश्चित् अर्थ विशेषः प्रत्यक्षी-कर्तव्यः। तत्र तदुपदिष्टार्थैकदेशप्रत्यक्षत्वे सति सर्वं सुसूक्ष्मविषय-मप्यापवर्गात् श्रद्धीयते। एतदर्थमेवेदं चित्तपरिकर्म निर्दिश्यते। अनियतासु वृत्तिषु तद्विषयायां वशीकारसंज्ञायां उपजातायां समर्थं स्यात् तस्य तस्यार्थस्य प्रत्यक्षीकरणायेति। तथा च सति श्रद्धावीर्य्यस्मृतिसमाधियोऽस्याप्रतिबन्धेन भविष्यन्तीति॥

अर्थ

नासिका के अग्र भाग में संयम (अर्थात् धारणा ध्यान और समाधि) करने वाले को जो दिव्य गन्ध का साक्षात्कार होता है वह गन्ध प्रवृत्ति कहलाती है। जिह्वा के अग्र भाग में संयम करने से रस का साक्षात्कार होता है। तालु में संयम करने से रूप का ज्ञान होता है। जिह्वा के मध्य भाग में संयम करने से स्पर्श ज्ञान होता है। और जिह्वा के मूल में संयम करने से शब्द का साक्षात्कार होता है। ये सब उत्पन्न हुई प्रवृत्तियां चित्त को स्थिर करती हैं और संशय को दूर करती हैं और समाधि प्रज्ञा के द्वार भूत होती हैं। इस कथन से चन्द्र सूर्य्य ग्रह मणि प्रदीप रश्मि आदि में जो प्रवृत्ति उत्पन्न होती है वह भी विषयवती ही समझना चाहिये। अगर्चे शास्त्र अनुमान और आचार्य्य के उपदेश से जानी गई अर्थ की अस्लियत सच्ची ही होती है क्योंकि उन में सच्चे अर्थ के प्रतिपादन की सामर्थ्य है तौ भी जब तक कोईसा एक अंश भी अपनी इन्द्रियों से साक्षात् नहीं होता है तब तक सब परोक्ष की नाईं सूक्ष्म अर्थ यानी अपवर्गादि में दृढ़ बुद्धि नहीं उत्पन्न होती है। तिस से शास्त्र अनु-मान और आचार्य्य के उपदेश को सच्चा करने के लिये कोईसा विशेष अर्थ ज़रूर प्रत्यक्ष करना चाहिये। फिर उस उपदेश किये हुए अर्थ के एक अंश के प्रत्यक्ष होने पर मोक्ष पर्य्यन्त सब सूक्ष्म विषय में भी श्रद्धा होजाती है। इसी लिये ही इस चित्त के शोधन का निर्देश किया है। अनियत वृत्तियों में किसी विशेष विषय वाली वशीकार संज्ञा उत्पन्न होने पर उस २ अर्थ के साक्षात्कार करने में चित्त समर्थ होता है। और ऐसा हुए बाद श्रद्धा वीर्य्य स्मृति समाधि उस चित्त को बिला रोक होती हैं॥

सूत्र ३६

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥

अर्थ

विशोका अथवा ज्योतिष्मती प्रवृत्ति से भी मन की स्थिति होती है ॥

भाष्य

प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनीति अनुवर्तते । हृदय पुण्डरीके धारयतो या बुद्धिसम्वित् । बुद्धिसत्वं हि भास्वरमाकाशकल्पं । तत्र स्थितिवैशारद्यात् प्रवृत्तिः सूर्येन्दुग्रहमणिप्रभारूपाकारेण विकल्पते । तथास्मितायां समापन्नं चित्तं निस्तरङ्ग महोदधिकल्पं शान्तमनंतमस्मितामात्रं भवति । यत्रेदमुक्तं—तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीति एतावत् संप्रजानीते । इत्येषाद्वयी विशोका विषयवती, अस्मितामात्रा च प्रवृत्तिज्योतिष्मतीत्युच्यतेऽत आह । यया योगिनश्चित्तंस्थितिपदं लभते इति ॥

अर्थ

सूत्र में यह इबारत लगाई जाती है कि उत्पन्न प्रवृत्ति मन की स्थिति का कारण होती है। हृदय के कमल में संयम करने से जो बुद्धि साक्षात्कारवती प्रवृत्ति उत्पन्न होती है सो यह विशोका वा ज्योतिष्मती है। क्योंकि बुद्धिसत्व देदीप्यमान और आकाश के सदृश व्याप्त है। उस में को प्रवृत्ति स्थिति की स्वच्छता से सूर्य चन्द्र ग्रह मणि और प्रभा के रूप में बदल जाती है। तैसे ही अस्मिता में सम्पन्न चित्त तरङ्ग रहित समुद्र के सदृश, शान्त अनन्त और अस्मितामात्र होजाता है। जब पंचशिख कहते हैं कि उस अत्यन्त सूक्ष्म आत्मा को जान कर मैं हूं इतना जानता है। इस तरह पर यह विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति दो प्रकार की कही जाती है एक तो विषयवती और दूसरी अस्मितामात्रा जिस सबब से ऐसा कहा गया। इस प्रवृत्ति से योगी का चित्त स्थित्ति पद को प्राप्त होता है ॥

सूत्र ३७

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥

अर्थ

जो महात्मा वीतराग (अर्थात् जिन में राग नहीं) हैं उन के अवलम्बन से चित्त स्थिर होजाता है ॥

भाष्य

वीतरागचित्तालम्बनोपरक्तं वा योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभते इति ॥

अर्थ

वीतराग पुरुषों का चित्त ही अवलम्बन जिस का ऐसा योगी चित्त की स्थिति पद को प्राप्त होता है ॥

सूत्र ३८

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥

अर्थ

जिस चित्त का स्वप्न ज्ञान आलम्बन है अथवा निद्रा ज्ञान आलम्बन है वह स्थिर होजाता है ॥

भाष्य

स्वप्नज्ञानालम्बनं निद्राज्ञानालम्बनं वा तदाकारं योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभते इति ॥

अर्थ

स्वप्न ज्ञान है आलम्बन जिस का अथवा निद्रा ज्ञान है आलम्बन जिस का ऐसा तदाकार योगी का चित्त स्थिति पद को प्राप्त होता है ॥

सूत्र ३९

यथाभिमतध्यानात् वा ॥

अर्थ

जो अभिमत अर्थात् इष्ट है उस के ध्यान करने से भी चित्त स्थिर होता है ॥

भाष्य

यदेवाभिमतं तदेवध्यायेत् तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि स्थितिपदं लभत इति ॥

अर्थ

जो प्रिय वा इष्ट हो उसी का ध्यान करै तौ जब उस में स्थिर होजायगा तौ अन्य विषय में भी स्थिति पद को प्राप्त होगा ॥

सूत्र ४०

परमाणुपरममहत्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥

अर्थ

परमाणु और परम महत्व तक इस चित्त का वशीकार है ॥

भाष्य

सूक्ष्मे निविशमानस्य परमाण्वन्तं स्थितिपदं लभत इति। स्थूले निविशमानस्य परममहत्वान्तं स्थितिपदं चित्तस्य। एवं तामुभयी कोटिमनुधावतो योऽस्याप्रतिघातः सपरोवशीकारः। तद्वशीकारात् परिपूर्णं योगिनश्चित्तं न पुनरभ्यासकृतं परिकर्मापेक्षत इति ॥ अथ लब्धस्थितिकस्य चेतसः किं स्वरूपा किं विषया वा समापत्तिरिति। तदुच्यते ॥

अर्थ

सूक्ष्म अर्थ में लगे हुए चित्त की स्थिति पद परमाणु तक है और स्थूल अर्थ में लगे हुए चित्त की स्थिति पद परम महत्व तक है। इस प्रकार दोनों तरफ़ दौड़ते हुए चित्त का जो अरोक है वह ही उस का परम वशीकार है। इस वशीकार से योगी परिपूर्ण चित्त फिर अभ्यासजन्य शोधन की अपेक्षा नहीं रखता। अब जिस चित्त की स्थिति प्राप्त होगई तो उस को किस स्वरूप की और किस विषय की समापत्ति होती है सो कहते हैं ॥

सूत्र ४१

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येवमणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषुतत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥

अर्थ

वृत्ति रहित स्वच्छमणि के सदृश चित्त की पुरुष और इन्द्रिय और भूतों में स्थिति होकर तदाकारता रूप समापत्ति होती है ॥

भाष्य

क्षीणवृत्तेरिति प्रत्यस्तमितप्रत्ययस्येत्यर्थः। अभिजातस्येव मणेरिति दृष्टान्तोपादानं। यथा स्फटिक उपाश्रयभेदात् तत्तदुप-

परक्तं उपाश्रयरूपाकारेण निर्भासते। तथा ग्राह्यालम्बनो-
परक्तं चित्तं ग्राह्यसमापन्नं ग्राह्यस्वरूपाकारेण निर्भासते। तथा
भूतसूक्ष्मोपरक्तं भूतसूक्ष्मसमापन्नं भूतसूक्ष्मरूपाभासं भवति।
तथा स्थूलालम्बनोपरक्तं स्थूलरूपसमापन्नं स्थूलरूपाभासं
भवति। तथा विश्वभेदोपरक्तं विश्वभेदसमापन्नं विश्वरूपाभासं
भवति। तथा ग्रहणेष्वपीन्द्रियेष्वपि द्रष्टव्यं। ग्रहणालम्बनो-
परक्तं ग्रहणसमापन्नं ग्रहणस्वरूपाकारेण निर्भासते। तथा
गृहीतृपुरुषालम्बनोपरक्तं गृहीतृपुरुषसमापन्नं गृहीतृपुरुषस्व-
रूपाकारेण निर्भासते। तथा मुक्तपुरुषालम्बनोपरक्तं मुक्तपुरुष
समापन्नं मुक्तपुरुषस्वरूपाकारेण निर्भासते। तदेवमभिजात-
मणिकल्पस्य चेतसो गृहीतृग्रहणग्राह्येषु पुरुषेन्द्रियभूतेषु या
तत्स्थतदञ्जनता तेषु स्थितस्य तदाकारापत्तिः सा समापत्ति-
रित्युच्यते॥

अर्थ

क्षीणवृत्तेः अर्थात् जिस चित्त के प्रत्यय शान्त होगये यानी रहे नहीं। अभिजातस्येव मणेः यह दृष्टान्त का ग्रहण है। जैसे स्फटिक मणि, समीपस्थ वस्तु के भेद से, उस वस्तु से उपरक्त होकर तदाकार मालूम होती है इसी तरह पर ग्राह्यालम्बन से उपरक्त चित्त ग्राह्य में समापन्न होकर ग्राह्य स्वरूपाकार निर्भासित होता है। तैसे ही सूक्ष्म भूतों में उपरक्त चित्त सूक्ष्म भूतों में समापन्न होकर सूक्ष्म भूतों के आकार में होजाता है। तैसे ही स्थूल आलम्बन से उपरक्त चित्त स्थूलरूप में समापन्न होकर स्थूलरूपाभास होता है। तैसे ही विश्वभेद में उपरक्त चित्त विश्वभेद में समापन्न विश्वभेदरूपाभास होजाता है। तैसे ही ग्रहण अर्थात् इन्द्रियों के बारे में भी जानना योग्य है। तैसे ही ग्रहण करने वाला पुरुष रूप आलम्बन से उपरक्त चित्त गृहीतृ पुरुष में समापन्न गृहीतृ पुरुष के स्वरूपाकार होजाता है। तैसे ही मुक्त पुरुष रूप आलम्बन से उपरक्त चित्त मुक्त पुरुष में समापन्न मुक्त पुरुष के स्वरूपाकार निर्भासता है। इस प्रकार स्वच्छ मणि के सदृश चित्त की गृहीतृ पुरुष और ग्रहण इन्द्रिय और ग्राह्य भूत में स्थिति होकर तदाकारता है वह समापत्ति कहलाती है॥

सूत्र ४२

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥

अर्थ

जो समापत्ति शब्द उस के अर्थ और ज्ञान से संकुचित है अर्थात् जिस में शब्द अर्थ और ज्ञान तीनों रहते हैं उस को सवितर्का समापत्ति कहते हैं ॥

भाष्य

तद्यथा गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानमित्य विभागेन विभक्तानामपि ग्रहणं दृष्टं । विभज्यमानाश्चान्ये शब्दधर्मा अन्येऽर्थधर्मा अन्ये विज्ञानधर्मा इत्येतेषां विभक्तः पंथाः । तत्र समापन्नस्य योगिनो योगवाद्यर्थः समाधिप्रज्ञायां समारूढः स चेत् शब्दार्थज्ञानविकल्पानुविद्धः उपावर्तते सा संकीर्णा समापत्तिः सवितर्केत्युच्यते । यदा पुनः शब्दसंकेतस्मृतिपरिशुद्धो श्रुतानुमानज्ञानविकल्पशून्यायां समाधिप्रज्ञायां स्वरूपमात्रेणावस्थितोऽर्थस्तत्स्वरूपाकारमात्रतयैवावच्छिद्यते । सा च निर्वितर्का समापत्तिः । तत्परं प्रत्यक्षं । तच्च श्रुतानुमानयोर्बीजं । ततः श्रुतानुमाने प्रभवतः । नच श्रुतानुमानज्ञानसहभूतं तद्दर्शनं । तस्मादसंकीर्णं प्रमाणान्तरेण योगिनो निर्वितर्कसमाधिजं दर्शनमिति ॥ निर्वितर्कायाः समापत्तेरस्याः सूत्रेण लक्षणं द्योत्यते :—

अर्थ

सो जैसे गौ शब्द है गौ अर्थ है और गौ ज्ञान है इस प्रकार भेद विना भेदयुक्तों का ग्रहण देखा गया है और जब इन में भेद किया जावे तो अन्य तो शब्द धर्म हैं अन्य अर्थधर्म हैं और अन्य विज्ञानधर्म हैं इस प्रकार इन का मार्ग अलहदह अलहदह है। अब समापन्नयोगी को जो गवादि अर्थ समाधिप्रज्ञा में आरूढ अगर शब्द अर्थ और ज्ञान के विकल्प से (अर्थात् कभी

शब्द कभी अर्थ और कभी ज्ञान का ख़याल होवे) अनुविद्ध हो तो वह संकीर्णा समापत्ति सवितर्का कहलाती है। और जब शब्द संकेत से स्मृति शुद्ध हो जाने पर समाधि प्रज्ञा में कि जो श्रुत और अनुमानज्ञान के विकल्प से रहित है स्वरूपमात्र ही से अवस्थित अर्थ उस ही स्वरूपाकार मात्रता ही से अवच्छिन्न होवे तो उस को निर्वितर्का समापत्ति कहते हैं। सो परं प्रत्यक्ष है और श्रुत व अनुमानज्ञान का बीज है। श्रुत और अनुमान उस ही से उत्पन्न होते हैं। वह दर्शन श्रुत और अनुमान ज्ञान के साथ नहीं होता इसलिये योगी का निर्वितर्कसमाधि से उत्पन्न दर्शन प्रमाणान्तर से असम्मिलित है॥ इस निर्वितर्क समापत्ति का लक्षण सूत्र द्वारा दिखलाया जाता है॥

सूत्र ४३

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का॥

अर्थ

जब स्मृति पूर्वोक्त विकल्प से रहित होकर परिशुद्ध हो जाती है और प्रज्ञा अपने रूप को त्याग कर अर्थ मात्र निर्भास रूप रहजाती है तो निर्वितर्क समापत्ति होती है॥

भाष्य

या शब्दसंकेतश्रुतानुमानज्ञानविकल्पस्मृतिपरिशुद्धौ ग्राह्यस्वरूपोपरक्ता प्रज्ञा स्वमिव प्रज्ञारूपं ग्रहणात्मकं त्यक्त्वा पदार्थमात्ररूपा ग्राह्यस्वरूपापन्नेव भवति सा निर्वितर्का समापत्तिः। तथा च व्याख्यातं। तस्या एकबुद्ध्युपक्रमो ह्यर्थात्मा अणुप्रचयविशेषात्मा गवादिर्घटादिर्वा लोकः स च संस्थानविशेषो भूतसूक्ष्माणां साधारणो धर्म आत्मभूतफलेन व्यक्तेनानुमितः स्वव्यञ्जकाञ्जनः प्रादुर्भवति धर्मान्तरोदये च तिरोभवति। स एष धर्मो अवयवीत्युच्यते। योऽसावेकश्च महांश्च अणीयांश्च स्पर्शवांश्च क्रियाधर्मकश्च अनित्यश्च तेनावयविना व्यवहाराः क्रियन्ते। यस्य पुनरवस्तुकः स प्रचयविशेषः सूक्ष्मञ्च कारणमनुपलभ्यं तस्यावयव्यभावात् अत-

द्रूपप्रतिष्ठं मिथ्याज्ञानमिति प्रायेण सर्वमेवप्राप्तं मिथ्याज्ञानमिति। तदा च सम्यक् ज्ञानमपि किं स्यात् विषयाभावात्? यद्यदुपलभ्यते तत्तदवयवित्वेनाघ्रातं। तस्मादस्त्यवयवी यो महत्वादिव्यवहारापन्नः समापत्ते र्निर्वितर्काया विषयो भवति॥

अर्थ

शब्द कर के संकेतित श्रुत और अनुमानित ज्ञान के विकल्प से स्मृति के परिशुद्ध होने पर जो ग्राह्यस्वरूप में उपरक्त, प्रज्ञा, ग्रहणात्मक अपने रूप को मानो त्याग किये हुए पदार्थ मात्र स्वरूप वाली ग्राह्यस्वरूप में आपन्न की नाईं होजाती है तो वह निर्वितर्का समापत्ति है। और ऐसा ही कह भी आये हैं। उस का एक बुद्धि का उपक्रम अर्थ रूप ही है। अणु के प्रचय से विशेष रूप गवादि घटादि लोक अर्थात् विषय है। और वह संस्थान विशेष है। और भूतसूक्ष्मों का साधारण धर्म है। स्पष्ट आत्मभूत फल से अनुमान किया जाता है। अपने कारण के अनुरूप अर्थात् अजन्य प्रादुर्भाव को प्राप्त होता है और धर्मान्तर के उदय पर तिरो भाव को प्राप्त होजाता है। वह यह धर्म अवयवी है ऐसा कहा जाता है। जो यह एक, बडा, छोटा, स्पर्श जिस का हो सके, क्रिया धर्म वाला, नाशवान है उस अवयवी से व्यवहार किये जाते हैं। अब जिस को यह प्रचय विशेष अवस्तुक है अर्थात् जो कोई इस को वस्तु शून्य मानता है और सूक्ष्म कारण की उपलब्धि नहीं हो सकी तो उस को अवयवी के न होने से अतद्रूपप्रतिष्ठ मिथ्याज्ञान है इस प्रकार प्रायः सब ही मिथ्याज्ञानप्राप्त है। और फिर विषय के अभाव से सम्यक् ज्ञान क्या होवे? जिस जिस की उपलब्धि है वह अवयवित्तता से गन्धित है अर्थात् उस में अवयवीपन पाया जाता है तिस से अवयवी का होना सिद्ध है जो महत्वादि व्यवहार से आपन्न निर्वितर्क समाधि का विषय होता है॥

सूत्र ४४

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता॥

अर्थ

इस ही निर्वितर्क समापत्ति से सूक्ष्म विषया दो प्रकार की अर्थात् सविचारा और निर्विचारा समापत्ति भी व्याख्यात है॥

भाष्य

तत्र भूतसूक्ष्मेष्वभिव्यक्तधर्मकेषु देशकालनिमित्तानुभवावच्छिन्नेषु या समापत्तिः सा सविचारेत्युच्यते । तत्राप्येकबुद्धिनिर्ग्राह्यमेवोदितधर्मविशिष्टं भूतसूक्ष्मालम्बनीभूतं समाधिप्रज्ञायामुपतिष्ठते । या पुनः सर्वथा सर्वतः शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानवच्छिन्नेषु सर्वधर्मानुपातिषु सर्वधर्मात्मकेषु समापत्तिः सा निर्विचारेत्युच्यते । एवं स्वरूपं हि भूतसूक्ष्मं एतेनैव स्वरूपेणालम्बनीभूतमेव समाधिप्रज्ञास्वरूपमुपरञ्जयति । प्रज्ञा च स्वरूपशून्येव अर्थमात्रा यदा भवति तदा निर्विचारेत्युच्यते । तत्रमहद्वस्तुविषया सवितर्का निर्वितर्का च, सूक्ष्मविषया सविचारा निर्विचारा च । एवमुभयोरेतयैव निर्वितर्कया विकल्पहानिर्व्याख्यातेति ॥

अर्थ

अब अभिव्यक्त धर्म वाले भूत सूक्ष्मों में कि जो देश काल और निमित्त के अनुभव से अवच्छिन्न हैं अर्थात् देश काल और निमित्त के अनुभव रूप विषय में जो आपन्न हैं, जो समापत्ति होती है वह सविचारा कहलाती है। उस में भी एक बुद्धि निर्ग्राह्य और वर्तमान धर्म विशिष्ट आलम्बनीभूत भूतसूक्ष्म समाधि प्रज्ञा में उपस्थित होता है। और जो सब तरह से सब ओर से शान्त उदित और अव्यपदेश्य धर्म से अनवच्छिन्न सर्व धर्मानुपाती और सर्वधर्मरूप भूत सूक्ष्मों में समापत्ति होती है वह निर्विचारा कहलाती है। इस स्वरूप वाला वह भूतसूक्ष्म इस ही स्वरूप से आलम्बनी भूत समाधि प्रज्ञा स्वरूप को तदाकार बनाता है और प्रज्ञा मानों अपने रूप से शून्य अर्थमात्र जब हो जाती है तब निर्विचारा कहलाती है। अत: स्थूल विषया सवितर्का और निर्वितर्का समापत्ति है और सूक्ष्मविषया सविचारा निर्विचारा है। इस प्रकार दोनों अर्थात् निर्वितर्का और निर्विचारा समापत्तियों की शब्दार्थज्ञानविकल्प हानि व्याख्यात हुई॥

सूत्र ४५

सूक्ष्मविषयत्वंचालिङ्गपर्य्यवसानम ॥

अर्थ

सूक्ष्मविषयत्व तो अलिङ्गपर्य्यन्त है॥

भाष्य

पार्थिवस्याणो गन्धतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः। आप्यस्य रसतन्मात्रं। तैजसस्य रूपतन्मात्रं। वायवीयस्य स्पर्शतन्मात्रं। आकाशस्य शब्दतन्मात्रमिति। तेषामहङ्कारः। अस्यापि लिङ्गतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः। लिङ्गमात्रस्याप्यलिङ्गं सूक्ष्मो विषयः। न चालिङ्गात् परं सूक्ष्ममस्ति। नन्वस्ति पुरुषः सूक्ष्म इति सत्यं। यथा लिङ्गात् परमलिङ्गस्य सौक्ष्म्यं नचैवं पुरुषस्य किन्तु लिङ्गस्यान्वयिकारणं पुरुषो न भवति हेतुस्तु भवतीति। अतः प्रधाने सौक्ष्म्यं निरतिशयं व्याख्यातम्॥

अर्थ

पृथ्वी के अणु का गन्धतन्मात्रा सूक्ष्म विषय है। जल का रसतन्मात्रा, तेज का रूपतन्मात्रा, वायु का स्पर्शतन्मात्रा, और आकाश का शब्दतन्मात्रा। इन तन्मात्राओं का अहङ्कार। इस का भी लिङ्गतन्मात्र सूक्ष्म विषय है। और लिङ्गतन्मात्र का भी अलिङ्ग सूक्ष्म विषय है। अलिङ्ग से परे सूक्ष्म नहीं है। पुरुष सूक्ष्म है यह सत्य है परन्तु जैसे लिङ्ग से परे अलिङ्ग की सूक्ष्मता है ऐसे पुरुष की नहीं। क्योंकि लिङ्ग का अन्वयी कारण पुरुष नहीं होता हेतु होता है। अतः प्रधान में अत्यन्त सूक्ष्मता कथन की गई है॥

सूत्र ४६

ता एव सबीजः समाधिः॥

अर्थ

वे ही चारों समापत्तियां सबीज समाधि हैं॥

भाष्य

ताश्चतस्रः समापत्तयो बहिर्वस्तुबीजा इति समाधिरपि सबीजः। तत्र स्थूलेऽर्थे सवितर्को, निर्वितर्कः। सूक्ष्मेऽर्थे सविचारो निर्विचार इति चतुर्धोपसंख्यातः समाधिरिति॥

अर्थ

वे चार प्रकार की समापत्तियां बहिर्वस्तुबीज (अर्थात् बाहर जो वस्तु है सोई है बीज जिन का) हैं इसी से समाधि भी सबीज है। सो स्थूल अर्थ में

सवितर्क और निर्वितर्क होती है और सूक्ष्म अर्थ में सविचार और निर्विचार। इस प्रकार चार तरह की समाधि गिनी जाती है। जैसे ये ग्राह्य की चार प्रकार की समापत्ति होती हैं वैसे गृहीतृ और ग्रहण की भी चार प्रकार की होती हैं। इसलिये कुल आठ प्रकार की समापत्ति हैं। अब जो पूर्वोक्त ग्राह्य की चार प्रकार की समापत्ति हैं उन का शोभनत्व दिखलाया जाता है ॥

सूत्र ४७

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥

अर्थ

निर्विचार समापत्ति के वैशारद्य अर्थात् स्वच्छ प्रवाह जारी होने पर अध्यात्मप्रसाद होता है ॥

भाष्य

अशुद्ध्यावरणमलापेतस्य प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्वस्य रजस्तमोभ्यामनभिभूतः स्वच्छः स्थितिप्रवाहो वैशारद्यं। यदा निर्विचारस्य समाधेर्वैशारद्यमिदं जायते तदा योगिनो भवति अध्यात्मप्रसादः भूतार्थविषयः क्रमाननुरोधी स्फुटप्रज्ञालोकः। तथा चोक्तं। प्रज्ञाप्रासादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान्। भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोनुपश्यति ॥

अर्थ

अशुद्धि (रज और तम) रूपी आवरण सोई मल तिस से रहित होकर प्रकाशरूप बुद्धिसत्व का जो निर्मल और रजो गुण तमोगुण से अनभिभूत (अपराजित अथवा जो दूर न होसके) स्थिति प्रवाह है वह उस का वैशारद्य है। जब निर्विचार समाधि को ऐसा वैशारद्य उत्पन्न होजाता है तब योगी को अध्यात्मप्रसाद (अर्थात् प्रत्यक्‌रूपता) होता है जो स्पष्ट प्रज्ञारूप प्रकाश है जिस में क्रम का अनुरोध नहीं अर्थात् जो इकदम होता है क्रम क्रम से नहीं और जिस का विषय सद्भूत अर्थ है यानी जिस में संशय और विपर्य्यय का लेश भी नहीं ॥ और ऐसा ही कहा भी है जो व्यासजी की गाथा है:—कि प्रज्ञारूपी महल पर चढ़ कर प्राज्ञ कि जो शोच का विषय नहीं सब शोच करते हुए जनों को जैसे कोई शैलपर खड़ा हुआ भूमि पर स्थित मनुष्यों को देखे प्रत्यक्‌रूपता से देखता है ॥

सूत्र ४८

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥

अर्थ

अध्यात्मप्रसाद में प्रज्ञा की संज्ञा ऋतम्भरा अर्थात् सत्यधारण करने वाली है ॥

भाष्य

तस्मिन् समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतम्भरेति संज्ञा भवति । अन्वर्था च सा । सत्यमेव बिभर्त्ति । न तत्र विपर्य्यासज्ञानगन्धोऽप्यस्तीति । तथाचोक्तम् । आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च । त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तममिति । सा पुनः

अर्थ

अध्यात्मप्रसाद में समाहित चित्त वाले को जो प्रज्ञा उत्पन्न होती है उस की ऋतम्भरा संज्ञा है। और वह अर्थानुसारिणी है। सत्य को ही धारण करती है। और उस में विपर्य्यास ज्ञान की गन्ध भी नहीं। ऐसा ही कहा भी है कि आगम (अर्थात् वेदविहितश्रवण) अनुमान (यानी मनन) और ध्यानाभ्यासरस से ज्ञान को उत्पादन करे तो उत्तम योग को प्राप्त होवे ॥ वह प्रज्ञा फिर

सूत्र ४९

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥

अर्थ

श्रुत और अनुमानजन्य प्रज्ञा से अन्य विषय वाली है क्योंकि उस का अर्थ विशेष है ॥

भाष्य

श्रुतमागमविज्ञानं तत् सामान्यविषयं । नह्यागमेन शक्यो विशेषोऽभिधातुं । कस्मात् नहि विशेषेण कृतसङ्केतः शब्द इति । तथानुमानं सामान्यविषयमेव । यत्र प्राप्तिस्तत्र गतिः ।

यत्राप्राप्तिस्तत्र न भवति गतिरित्युक्तम्। अनुमानेन च सामान्येनोपसंहारः। तस्मात् श्रुतानुमानविषयो न विशेषः कश्चिदस्तीति। न चास्य सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टस्य वस्तुनो लोकप्रत्यक्षेण ग्रहणं। न चास्य विशेषस्याप्रमाणकस्याभावोस्तीति। समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य एव सविशेषो भवति। भूतसूक्ष्मगतोवा पुरुषगतोवा। तस्मात् श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया सा प्रज्ञा विशेषार्थत्वादिति। समाधिप्रज्ञाप्रतिलम्भे योगिनः प्रज्ञाकृतः संस्कारो नवो नवो जायते॥

अर्थ

श्रुत अर्थात् आगमविज्ञान यानी वेद से प्राप्तज्ञान है। वह सामान्य विषय है। इसलिये आगम से विशेष कथन नहीं होसक्ता क्योंकि विशेष के साथ शब्द का संकेत किया नहीं गया तैसे ही अनुमान भी सामान्य विषय है। जहां प्राप्ति है वहीं गति है और जहां प्राप्ति नहीं है वहां गति नहीं होती है यह ज़ाहिर है। अनुमान के साथ सामान्य की समाप्ति है। इसलिये श्रुतानुमान विषय कोई विशेष नहीं होता और न इस सूक्ष्म रोकसहित और दूरस्थ विशेष वस्तु का ग्रहण लोक प्रत्यक्ष से होता है और न इस विशेष का कि जो प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता अभाव है। यह विशेष तो समाधि प्रज्ञा ही से समझ में आता है चाहें वह भूत सूक्ष्मगत हो वा पुरुषगत हो। तिस से श्रुतानुमान प्रज्ञा से वह प्रज्ञा विशेषार्थत्व की वजह से विशेष है। समाधि प्रज्ञा प्राप्त होने पर योगी को प्रज्ञाकृत संस्कार नये नये होते हैं॥

सूत्र ५०

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कार प्रतिबन्धी॥

अर्थ

उस प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार अन्यसंस्कारों के रोकने वाले होते हैं॥

भाष्य

समाधिप्रज्ञाप्रभवः संस्कारो व्युत्थानसंस्काराशयं बाधते। व्युत्थानसंस्काराभिभवात् तत्प्रभवाः प्रत्ययाः न भवन्ति। प्रत्ययनिरोधे समाधिरुपतिष्ठते। ततः समाधिजा प्रज्ञा। ततः

प्रज्ञाकृताः संस्काराः इति नवो नवो संस्काराशयो जायते। ततः प्रज्ञा। ततश्च संस्कारा इति कथमसौ संस्कारातिशयश्चित्तं साधिकारं न करिष्यतीति। न ते प्रज्ञाकृताः संस्काराः क्लेशक्षयहेतुत्वात् चित्तमधिकारविशिष्टं कुर्वन्ति। चित्तं हि ते स्वकार्य्यादवसादयन्ति। ख्यातिपर्य्यवसानं हि चित्तचेष्टितमिति। किंचास्य भवति?

अर्थ

समाधिप्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार व्युत्थानसंस्काराशय को रोकता है। व्युत्थानसंस्कार के अभिभव से उस से उत्पन्न प्रत्यय नहीं होते हैं। और जब प्रत्यय रुकजाते हैं तो समाधि स्थिर होती है और फिर उस से समाधिजा प्रज्ञा होती है फिर प्रज्ञाकृत संस्कार होते हैं इस प्रकार नई नई संस्कार की वृद्धि होती है उस से प्रज्ञा फिर प्रज्ञा से संस्कार। अब प्रश्न यह है कि यह संस्कारातिशय चित्त को साधिकार क्यों नहीं करता? वे प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार क्लेशों के क्षीण होजाने की वजह से चित्त को अधिकार विशिष्ट नहीं करते क्योंकि वे चित्त को उस के कार्य्य से दूर करते हैं और चित्त की चेष्टा सत्वपुरुषान्यताख्याति पर्य्यन्त है। तो उस को क्या होता है॥

सूत्र ५१

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्वीजः समाधिः॥

अर्थ

उस के भी रुकने पर सब के निरोध से निर्बीज समाधि होती है॥

भाष्य

स न केवलं समाधिप्रज्ञाविरोधी, प्रज्ञाकृतानां संस्काराणामपि प्रतिबन्धी भवति। कस्मान्निरोधजः संस्कारः समाधिजान्संस्कारान् बाधत इति निरोधस्थितिकालक्रमानुभवेननिरोध चित्तकृतसंस्कारास्तित्वमनुमेयम्। व्युत्थाननिरोधसमाधिप्रभवैः सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं स्वस्यां प्रकृताववस्थितायां

प्रविलीयते । तस्मात्ते संस्काराश्चित्तस्याधिकार विरोधिनो न स्थितिहेतवो भवन्तीति । यस्मादवसिताधिकारं सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं विनिवर्तते । तस्मिन्निवृत्ते पुरुषः स्वरूपप्रतिष्ठः । अतः शुद्धो मुक्त इत्युच्यते ॥

अर्थ

वह निर्बीज समाधि केवल समाधिप्रज्ञा की विरोधी नहीं है बल्कि प्रज्ञाकृतसंस्कारों को भी रोकने वाली है क्योंकि निरोध से उत्पन्न संस्कार समाधिज संस्कारों को रोकते हैं। इस प्रकार निरोधस्थिति के कालक्रम के अनुभव से निरोधचित्तकृत संस्कारों की आस्तिता अनुमान की जाती है। व्युत्थान को रोकने वाले समाधि से उत्पन्न कैवल्यभागी संस्कारों के साथ चित्त अपनी अवस्थित (सदैव रहने वाली) प्रकृति में लीन होताजा है। जिस से वे संस्कार चित्त के अधिकार के विरोधी हैं और स्थिति के कारण नहीं होते। इस से कैवल्यभागी संस्कारों के साथ चित्त कि जिस का अधिकार समाप्त होगया है निवृत्त होजाता है अर्थात् अपने कारण में लीन होजाता है। चित्त के निवृत्त होने पर पुरुष अपने रूप में प्रतिष्ठित होता है इसलिये वह शुद्ध और मुक्त कहा जाता है॥

इति श्रीपातञ्जलयोगदर्शने व्यासकृतभाष्य भाषानुवाद सहिते
प्रथम पादः सम्पूर्णः ॥

अथ द्वितीय पाद प्रारम्भः

पातञ्जलदर्शनं

साधनपाद ॥

सूत्र १

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः॥

अर्थ

तप स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान क्रियायोग है ॥

भाष्य

उद्दिष्टः समाहितचित्तस्य योगः । कथं व्युत्थितचित्तोऽपि-योगयुक्तः स्यादित्येतदारभ्यते । नातपस्विनो योगः सिद्ध्यति । अनादिकर्मक्लेशवासनाचित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिः नान्तरेण तपः सम्भेदमापद्यते इति तपस उपादानं । तच्चित्त-प्रसादनमबाधमानमनेनासेव्यमिति मन्यते । स्वाध्यायः प्रणवादि पवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा । ईश्वरप्रणिधानं सर्वं क्रि-याणां परमगुरावर्पणं तत्फलसन्न्यासो वा । सहि क्रियायोगः ॥

अर्थ

जिस का चित्त समाधान है उस के लिये योग कहा अब यह शुरू किया जाता है कि जिस का चित्त समाधान नहीं है वह कैसे योगयुक्त हो सक्ता है। जो पुरुष तपस्वी नहीं है उस को योग सिद्ध नहीं होता। क्योंकि अनादि कर्म और क्लेश की वासनाओं से रंगी हुई अशुद्धि कि जिस में विषय समूह प्राप्त है तप के बिदून नष्ट नहीं होती। इसी लिये तप का ग्रहण है। और वह चित्त का बाधा रहित प्रसन्न करने वाला है इसी वजह से ऐसा माना गया है कि मध्यम अधिकारी को सेवना चाहिये। स्वाध्याय प्रणवादि पवित्र स्तोत्रों का जप अथवा मोक्षशास्त्र (अर्थात् के शास्त्र और वेद व इन के अनुसार पुस्तकों) का पढ़ना है। ईश्वर प्रणिधान सब क्रियाओं का अथवा फल का परम गुरू परमेश्वर को अर्पण करना है॥ वह क्रिया योग (अगाड़ी सूत्र के साथ मिलाओ) ?

सूत्र २

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥

अर्थ

समाधि की भावना व क्लेशों के क्षीण करने के लिये है ॥

भाष्य

स हि आसेव्यमानः समाधिं भावयति । क्लेशांश्च प्रतनूकरोति । प्रतनूकृतान् क्लेशान् प्रसंख्यानाग्निनादग्धबीजकल्पानऽप्रसवधर्मिणः करिष्यतीति । तेषां तनूकरणात् पुनः क्लेशैरपरामृष्टा सत्वपुरुषान्यतामात्रख्यातिः सूक्ष्मा प्रज्ञासमाप्ताधिकारा प्रतिप्रसवाय कल्पिष्यते इति ॥ अथ के क्लेशाः कियन्तोवेति ?

अर्थ

वह क्रिया योग अगर किया जावे तो उस से समाधि की भावना होती है और क्लेश भी क्षीण हो जाते हैं। क्षीण क्लेश प्रसंख्यान की अग्नि से जले हुए बीज के समान उत्पत्ति धर्म से रहित हो जांयगे। क्लेशों के क्षीण होने से क्लेशों करके अपरामृष्ट सूक्ष्म प्रज्ञा कि जिस में सत्व और पुरुष की अन्यता मात्र ख्याति है और जिस का अधिकार समाप्त होगया प्रत्यकप्रवण के लिये समझी जावैगी ॥ अब क्लेश कौन कौन हैं और कितने हैं :—

सूत्र ३

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः ॥

अर्थ

अविद्या अस्मिता रागद्वेष और अभिनिवेश पांच क्लेश हैं ॥

भाष्य

इति पञ्चविपर्य्यया इत्यर्थः । ते स्पन्दमाना गुणाधिकारं दृढयन्ति । परिणाममवस्थापयन्ति । कार्य्यकारणस्रोतउन्नमयन्ति । परस्परानुग्रहतन्त्री भूत्वा कर्मविपाकं चाभिनिर्हरन्ति इति ॥

अर्थ

मतलब यह है कि ये पांच विपर्य्यय हैं। और जब अपने अपने स्वभाव में प्रवृत्त होते हैं तो गुणों के अधिकार को दृढ़ करते हैं, परिणाम को क़ायम करते हैं, कार्य्यकारण रूपी सोता के प्रवाह को जारी करते हैं, और आपस में एक दूसरे के सहायक होकर कर्म के फल को निष्पादन करते हैं ॥

सूत्र ४

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥

अर्थ

प्रसुप्त तनु विच्छिन्न और उदार चारों अन्त के क्लेशों का क्षेत्र अर्थात् प्रसवभूमि अविद्या है ॥

भाष्य

अत्राऽविद्या क्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मितादीनांचतुर्विध-कल्पितानां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणां। तत्र का प्रसुप्तिः? चेतसि शक्तिमात्रप्रतिष्ठानां बीजभावोपगमः। तस्य प्रबोध आलम्बने संमुखीभावः। प्रसंख्यानवतो दग्धक्लेशबीजस्य संमुखीभूतेप्या-लम्बने नासौ पुनरस्ति। दग्धबीजस्य कुतः प्ररोह इति। अतः क्षीणक्लेशः कुशलश्चरमदेह इत्युच्यते। तत्रैव सा दग्धबीजभावा पञ्चमी क्लेशावस्था नान्यत्रेति। सतां क्लेशानां तदाबीजसामर्थ्यं दग्धमिति। विषयस्य संमुखीभावेऽपि सति न भवत्येषां प्रबोध इत्युक्ता प्रसुप्तिर्दग्धबीजानां अप्ररोहश्च। तनुत्वमुच्यते। प्रति-पक्षभावनोपहताः क्लेशास्तनवो भवन्ति। तथा विच्छिद्य विच्छिद्य तेन तेनात्मना पुनः पुनः समुदाचरन्तीति विच्छिन्नाः कथं? रागकाले क्रोधस्यादर्शनात्। न हि रागकाले क्रोधः समुदाचरति। रागश्च क्वचित् दृश्यमानो न विषयान्तरे इति नास्ति। नैकस्यां स्त्रियां चैत्रोरक्त इति अन्यासुस्त्रीषु विरक्तः किन्तु तत्र रागो

लब्धवृत्तिः अन्यत्र भविष्यद्वृत्तिरिति । स हि तदा प्रसुप्ततनु-विच्छिन्नो भवति । विषये यो लब्धवृत्तिः स उदारः । सर्व्वएवैते क्लेशविषयत्वं नातिक्रामन्ति। कस्तर्हि विच्छिन्नः प्रसुप्तस्तनुरुदारो वा क्लेश इति उच्यते । सत्यमेवैतत् । किन्तु विशिष्टानामेवैतेषां विच्छिन्नादित्वं। यथैव प्रतिपक्षभावनातो निवृत्तस्तथैव स्वव्यञ्जका-ञ्जनेनाभिव्यक्त इति । सर्व एवामी क्लेशा अविद्याभेदाः। कस्मात् सर्वेषु अविद्यैवाभिप्लवते। यदविद्यया वस्त्वाकार्य्यते तदेवानुशेरते। क्लेशा विपर्य्यासप्रत्ययकाले उपलभ्यन्ते । क्षीयमाणां चाविद्या-मनुक्षीयन्त इति । तत्राविद्यास्वरूपमुच्यते ॥

अर्थ

अब अविद्या बाक़ी के चार क्लेशों की (अर्थात् अस्मिता को आदि लेकर) कि जो चार प्रकार के कल्पना किये गये हैं अर्थात् प्रसुप्त तनु विच्छिन्न और उदार क्षेत्र अर्थात् प्रसव भूमि (पैदा होने की जगह) है। इन में से प्रसुप्ति क्या है ? शक्तिमात्र प्रतिष्ठित क्लेशों का चित्त में बीज भाव करके स्थिति प्रसुप्ति है। उस का प्रबोध आलम्बन में संमुखी भाव है। जो प्रसंख्यान से युक्त है और इसी वजह से जिस का क्लेशबीज दग्ध होगया उस चित्त के सम्मुख आलम्बन होने पर भी फिर यह प्रबोध नहीं होता। क्योंकि जिस का बीज दग्ध होगया है उस का प्ररोह फिर कहां। इसलिये क्षीणक्लेश (अर्थात् जिस के क्लेशक्षीण होगये) कुशल और अन्तिम देह वाला कहलाता है अर्थात् जिस देह में वह है वह ही अन्तिम देह है आइन्दः उस को देह धारण नहीं करनी होती। तभी वह दग्ध बीज वाली पांचमी क्लेश की अवस्था होती है अन्यत्र नहीं। तब विद्यमान क्लेशों की बीज सामर्थ्य दग्ध होती है जिस से विषय के सम्मुख होने पर भी क्लेशों का प्रबोध नहीं होता। इस प्रकार प्रसुप्ति और दग्ध बीज क्लेशों का अप्ररोह कथन किया। अब तनुत्व का ज़िकर किया जाता है। प्रतिपक्ष भावना से नष्ट किये हुए क्लेश सूक्ष्म होजाते हैं। तैसे ही अभिभूत हो हो कर उस स्वरूप से फिर फिर प्रादुर्भूत होते हैं इस तरह से विच्छिन्न हैं। सो यह कैसे ? राग के समय क्रोध के न दिखलाई देने से क्योंकि राग के समय क्रोध प्रादुर्भूत नहीं होता। इस से ऐसा नहीं होता कि कहीं देखा गया राग विषयान्तर में नहीं है। चैत्र नामी मनुष्य की एक स्त्री से प्रीति है तो

यह नहीं कि वह अन्य स्त्रियों से विरक्त है। पहिले में तो राग लब्धवृत्ति अर्थात् वर्तमान है और अन्यत्र होने वाला है। पूर्वोक्त अवस्थाओं में वह (यानी राग) प्रसुप्त तनु और विच्छिन्न होता है। जो विषय लब्धवृत्ति है वह उदार है। सब जगह ये यानी चारों अवस्था क्लेशविषयत्व को उल्लङ्घन नहीं करतीं। तो फिर क्यों विच्छिन्न प्रसुप्त तनु वा उदार क्लेश कहलाता है। यह बात सत्य है परन्तु इन आपस में मिले हुओं को ही विच्छिन्नादित्व है। जैसे प्रतिपक्ष भावना से निवृत्त होजाता है उसी तरह अपने प्रगट करने वाले के अनुरूप अभिव्यक्त होजाता है। सब ये क्लेश अविद्या के भेद हैं। क्योंकि सब में अविद्या ही अनुगत है। जिस वस्तु का अविद्या से आकार बनता है वह ही परिशेष रहता है। विपर्य्यास प्रत्यय जब होता है तो क्लेशों का प्रादुर्भाव है और जब अविद्या क्षीण होजाती है तो क्लेश भी क्षीण होजाते हैं॥ इन क्लेशों में से अविद्या का स्वरूप कहा जाता है॥

सूत्र ५

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या॥

अर्थ

अनित्य अशुचि दुःख और अनात्म में नित्य शुचि सुख और आत्म ख्याति अविद्या है॥

भाष्य

अनित्ये कार्य्ये नित्यख्यातिः। तद्यथा ध्रुवा पृथ्वी, ध्रुवा सचन्द्रतारका द्यौः, अमृता दिवौकस इति। तथाशुचौ परमबीभत्से काये शुचिख्यातिः। उक्तञ्च—स्थानाद्बीजादुपष्टम्भात् निःस्पन्दान्निधनादपि। कायमाधेयशौचत्वात् पण्डिता ह्यशुचिं विदुः। इत्यशुचौ शुचिख्यातिर्दृश्यते। नवेव शशाङ्कलेखा कमनीयेयं कन्या मध्वामृतावयवनिर्मितेव चन्द्रं भित्वा निःसृतेव ज्ञायते नीलोत्पलपत्रायताक्षी हावगर्भाभ्यां लोचनाभ्यां जीवलोकमाश्वासयन्तीवेति कस्य केनाभिसम्बन्धः भवति चैवमशुचौ शुचिविपर्य्यासप्रत्यय इति। एतेनापुण्ये पुण्यप्रत्ययस्तथैवानर्थे चार्थप्रत्ययो

व्याख्यातः । तद्यथा-दुःखे सुखख्यातिं वक्ष्यति । परिणामताप-संस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिन इति । तत्र सुखख्यातिरविद्या । तथा अनात्मन्यात्मख्यातिर्बाह्योपकरणेषु चेतनाचेतनेषु भोगाधिष्ठाने वा शरीरे पुरुषोपकरणे वा मनसि अनात्मन्यात्मख्यातिरिति । तथैतदत्रोक्तं । व्यक्तमव्यक्तं वा सत्व मात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य सम्पदमनुनन्दत्यात्मसम्पदं मन्वान-स्तस्य व्यापदमनुशोचत्यात्मव्यापदं मन्वानः स सर्वोऽप्रतिबुद्ध इत्येषा चतुष्पदा भवत्यविद्या मूलमस्य क्लेशसन्तानस्य कर्माशयस्य च विपाकस्येति । तस्याश्चामित्रागोष्पदवद् वस्तुसतत्वं विज्ञेयं । यथा नामित्रो मित्राभावो न मित्रमात्रं किन्तु तद्विरुद्धः सपत्नः यथा-वाऽगोष्पदं न गोष्पदाभावो न गोष्पदमात्रं किन्तु देश एव ताभ्यामन्यद्वस्त्वन्तरं । एवमविद्या न प्रमाणं न प्रमाणाभावः किन्तु विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरमविद्येति ॥

अर्थ

जो थोड़े समय रहने वाला कार्य्य है उस को हमेशः रहने वाला समझना मसलन् हमेशः रहने वाली पृथ्वी है, चन्द्र और तारागण सहित स्वर्गलोक हमेशः रहैगा, देवता अमर हैं इति ॥ तैसे ही अपवित्र और अत्यन्त-घृणा के योग्य शरीर में पवित्रता का खयाल । कहा भी है (यह व्यासजी की गाथा है) कि स्थान (अर्थात् माता का उदर कि जो मूत्रादि करके मलिन है) बीज (अर्थात् पिता का वीर्य्य) उपष्टम्भ (अर्थात् खाई पीई हुई चीज़ों के रस से वृद्धि) निःस्यन्द (अर्थात् रोम रोम से कि जो ३॥ किरोड़ संख्या में अधिक से अधिक होते हैं मैले का झिरना) और निधन (अर्थात् मरना) से शौच शरीर का शोधय होने की वजह से पण्डित लोग शरीर को अपवित्र कहते हैं । इस प्रकार अशुचि में शुचि का खयाल दिखलाई देता है । यह कामना के योग्य कन्या नई चन्द्ररेखा के समान और सुन्दर मानो अमृत अवयवों से निर्मित चन्द्र को भेद करके निकली सी जान पड़ती है और वह बड़े बड़े नेत्र वाली हाव (विलास) से भरे नयनों से जीवों को दिलासा सी देती है । इस में किस का किस के साथ मिलान होता है । इस तरह पर अशुचि में शुचि का उलटा

ख़याल है। इस कथन से अपुण्य में पुण्य प्रत्यय और अनर्थ में अर्थ प्रत्यय भी व्याख्यात हैं। और वह इस तरह पर:—दुःख में सुख की ख्याति को कहता है परन्तु विवेकी को परिणाम, ताप और संस्कार दुःखता से व गुणवृत्ति के विरोध से सब ही दुःख है। तो सुखख्याति अविद्या है। तैसे ही अनात्म में आत्म ख्याति। अर्थात् बाहर के चेतन और अचेतन उपकरण अथवा भोग का अधिष्ठान शरीर अथवा पुरुष का उपकरण मन में कि जो अनात्म हैं आत्मा का ख़याल। और ऐसा ही पंचशिख ने कहा है कि चेतन और अचेतन सत्व को आत्मा यक़ीन करके उस को सम्पद से आनन्दित होता है और अपनी सम्पद मान कर उस की व्यापद का शोच करता है और आत्म व्यापद को मान कर वह सब बातों से अप्रति बुद्ध अर्थात् मूढ़ है। इस तरह पर चतुष्पदा (अर्थात् चार चरण वाली) अविद्या होती हैं कि जो इस क्लेशसन्तान व कर्माशय व विपाक का मूल है। उस का अमित्र और अगोष्पद की नाईं वस्तु सतत्व (अर्थात् वह क्या है और उस की अस्लियत क्या है) जानना चाहिये। जैसे अमित्र मित्राभाव नहीं और न मित्रमात्र है किन्तु उस के विरुद्ध शत्रु है। जैसे अगोष्पद गोष्पदाभाव नहीं है और न गोष्पदमात्र है किन्तु देश है। अर्थात् इन दोनों से अलहदह वस्त्वन्तर हैं। ऐसे ही अविद्या प्रमाण नहीं है और न प्रमाणाभाव है किन्तु विद्या से विपरीति ज्ञानान्तर अविद्या है॥

सूत्र ६

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवाऽस्मिता॥

अर्थ

दृक् शक्ति और दर्शन शक्ति की एकात्मता (अर्थात् एकरूपता) सी अस्मिता है॥

भाष्य

पुरुषो दृक्शक्तिर्बुद्धिर्दर्शनशक्तिरित्येतयोरेकस्वरूपापत्तिरिवास्मिता क्लेश उच्यते। भोक्तृभोग्यशक्त्योरत्यन्तविभक्तयो रत्यन्तासङ्कीर्णयोरविभागप्राप्ताविव सत्यां भोगः कल्पते। स्वरूपप्रतिलम्भे तु तयोः कैवल्यमेव भवति। कुतो भोग इति। तथाचोक्तं—बुद्धितः परम् पुरुष माकारशीलविद्यादिभिः। विभक्तमपश्यन् कुर्य्यात् तत्रात्मबुद्धिं मोहेनेति॥

अर्थ

पुरुष दृक् अर्थात् देखने वाली शक्ति है और बुद्धि दर्शन अर्थात् देखी जाने वाली शक्ति है। इन दोनों का एक स्वरूपसा होजाना अस्मिता क्लेश कहलाता है। भोक्तृ और भोग्य शक्ति अत्यन्त अलग अलग हैं और एक दूसरे के साथ संकीर्ण नहीं तथापि इन दोनों का जब मेलसा होजाता है तो भोग समझा जाता है और जब अपने अपने स्वरूप में पृथक् पृथक् होजाते हैं तो कैवल्य हो जाता है फिर भोग कहां। ऐसा ही कहा भी है:—कि बुद्धि से परे पुरुष को आकार शील और विद्यादि करके अलहदह नहीं देखता है तो वह मोह से उन में आत्म बुद्धि करता है अर्थात् उन को आत्मा ही समझता है॥

सूत्र ७

सुखानुशयी रागः॥

अर्थ

सुख का अनुशय करने वाला राग है॥

भाष्य

सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वः सुखे तत्साधने वा योगर्ध-स्तृष्णा लोभः स राग इति॥

अर्थ

सुख के जानने वाले को सुख का स्मर्ण करके सुख वा उस के साधन में जो तृष्णा अर्थात् लोभ होता है वह राग है॥

सूत्र ८

दुःखानुशयी द्वेषः॥

अर्थ

दुःख का अनुशय करने वाला द्वेष है।

भाष्य

दुःखाभिज्ञस्य दुःखानुस्मृतिपूर्वो दुःखे तत्साधने वा यः प्रतिघो मन्युर्जिघांसा क्रोधः स द्वेषः॥

अर्थ

दुःख के जानने वाले का दुःख को स्मर्ण करके दुःख वा उस के साधन में जो मारने की इच्छा अर्थात् क्रोध है वह द्वेष है॥

सूत्र ९

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥

अर्थ

अपने रस से चलने वाला और विद्वानों पर भी सवार अभिनिवेश क्लेश है ॥

भाष्य

सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति मानभूवं भूयासमिति । नचाननुभूतमरणधर्मकस्यैषा भवत्यात्माशी । एतया च पूर्वजन्मानुभवः प्रतीयते । सचायमभिनिवेशः क्लेशः स्वरसवाही । कृमेरपि जातमात्रस्य प्रत्यक्षानुमानागमैरसम्भावितोमरणत्रास उच्छेददृष्ट्यात्मकःपूर्वजन्मानुभूतंमरणदुःखमनुमापयति । यथाचायमत्यन्तमूढेषु दृश्यतेक्लेशस्तथाविदुषोपि विज्ञातपूर्वापरान्तस्य रूढः । कस्मात् ? समाना हि तयोः कुशलाकुशलयोर्मरणदुःखानुभवादियं वासनेति ॥

अर्थ

सब प्राणी यह प्रार्थना रोज़मर्रः करते हैं कि ऐसा न हो कि हम न रहें बल्कि हमेशः होते रहें अथवा बने रहें। यह आत्माशी उस को नहीं होती जिसने मरने का अनुभव नहीं किया हो। इस से पूर्व जन्म के अनुभव की प्रतीति होती है। सो यह अभिनिवेश क्लेश अपने रस से चलने वाला है। पैदा ही हुए कीड़े को भी कि जिसने प्रत्यक्ष अनुमान और आगम से मरण की सम्भावना नहीं की जो मरने का डर होता है कि जो नाशरूप है उस से यह अनुमान होता है कि उसने पूर्व जन्म में मरने का दुःख भोगा था। जैसे यह क्लेश अत्यन्त मूढ़ों में दिखलाई देता है वैसे ही पूर्वापर के जानने वाले पण्डितों पर भी आरूढ़ है क्योंकि दुःख के अनुभव करने से कुशल और अकुशल दोनों के लिये यह वासना समान है ॥

सूत्र १०

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥

अर्थ

वे सूक्ष्म अर्थात् संस्काररूप से स्थित क्लेश कारण में लय होने से दूर होते हैं ॥

भाष्य

ते पंच क्लेशा दग्धबीजकल्पा योगिनश्चरिताधिकारे चेतसि प्रलीने सह तेनैवास्तं गच्छन्ति ॥

अर्थ

जब योगी का चित्त कि जिस का अधिकार समाप्त होगया अपने कारण में लय होजाता है तो जले हुए बीज के समान वे पांचो क्लेश उस (अर्थात् चित्त) के साथ ही अस्त होजाते हैं ॥

सूत्र ११

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥

अर्थ

क्लेशों की जो वृत्तियां हैं वे ध्यान करके दूर होजाती हैं ॥

भाष्य

क्लेशानां या वृत्तयः स्थूलास्ताः क्रियायोगेन तनूकृताः सत्यः प्रसंख्यानेन ध्यानेन हातव्याः यावत् सूक्ष्मीकृता यावत् दग्धबीजकल्पा इति । यथा च वस्त्राणां स्थूलोमलः पूर्वन्निर्धूयते पश्चात् सूक्ष्मो यत्नोपायेन चापनीयते तथा स्वल्पप्रतिपक्षाः स्थूला वृत्तयः क्लेशानाम् सूक्ष्मास्तु महाप्रतिपक्षा इति ॥

अर्थ

जो क्लेश कि स्थित हैं और बीज भाव को प्राप्त हैं उन की जो स्थूल वृत्तियां हैं वे क्रिया योग से तनु होजाती हैं और फिर पुरुष गोचर ध्यान से दूर होजाती हैं यहां तक कि सूक्ष्म न होजावे और दग्ध बीज के सदृश न हो जावें। जैसे कपड़े का स्थूल मैल पहिले धोया जाता है और पाछे सूक्ष्म मल यत्न से दूर किया जाता है वैसे ही स्वल्प प्रतिपक्ष तो क्लेशों की स्थूल वृत्तियां हैं और सूक्ष्म वृत्तियां तो महा प्रतिपक्ष हैं ॥

सूत्र १२

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥

अर्थ

कर्माशय कि जिस की मूल क्लेश हैं दृष्ट और अदृष्ट जन्म से अनुभव किये जाते हैं ॥

भाष्य

तत्र पुण्यापुण्यकर्माशयः कामलोभमोहक्रोधप्रसवः। स दृष्टजन्मवेदनीयश्चादृष्टजन्मवेदनीयश्च। तत्र तीव्रसंवेगेन मन्त्रतपःसमाधिभिर्निर्वर्त्तित ईश्वरदेवतामहर्षिमहानुभावानामाराधनाद्वा यः परिनिष्पन्नः स सद्यः परिपच्यते पुण्यकर्माशय इति। तथा तीव्रक्लेशेन भीतव्याधितकृपणेषु विश्वासोपगतेषु वा महानुभावेषु वा तपस्विषु कृतः पुनः पुनरपकारः सचापि पापकर्माशयः सद्य एव परिपच्यते। यथा नन्दीश्वरः कुमारो मनुष्यपरिणामं हित्वा देवत्वेन परिणतः तथा नहुषोपि देवानामिन्द्रः स्वकं परिणामं हित्वा तिर्य्यक्त्वेन परिणत इति। तत्र नारकाणां नास्ति दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः। क्षीणक्लेशानामपि नास्त्यदृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशय इति॥

अर्थ

अब पुण्य और पाप कर्मों की राशि काम लोभ मोह और क्रोध से पैदा होती है सो वह या तो दृष्ट जन्म में अनुभव की जाती है अथवा अदृष्ट जन्म में। तिस में जो कर्माशय तीव्रसंवेग के साथ मन्त्र तप और समाधि से निष्पादित है अथवा जो ईश्वर देवता महर्षि और महानुभावों के आराधन से निष्पादित है वह पुण्य कर्माशय शीघ्र परिपाक को प्राप्त होता है। तैसे ही तीव्र क्लेश से जो बार बार अपकार विश्वास करने वाले डरे हुए रोगी और कृपण जनों का अथवा महानुभाव वा तपस्वियों का किया जाता है, वह भी पाप कर्माशय शीघ्र ही परिपक्व होजाता है। सम्लन् जैसे कुमार नन्दीश्वर मनुष्य परिणाम अर्थात मनुष्य देह को त्याग कर देवता होगया तैसे नहुष भी कि जो देवताओं का इन्द्र यानी राजा था अपने परिणाम अर्थात् देवतापन से अलहदह होकर सर्प होगया। इस में नरकगामी जीवों को दृष्ट जन्म में अनुभव के योग्य कर्माशय नहीं होता और क्षीण क्लेश वालों को आने वाले जन्म में अनुभव के योग्य कर्माशय नहीं होता॥

सूत्र १३

सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः॥

अर्थ

जब तक क्लेशों की जड़ बनी रहती है तब तक उस कर्माशय का विपाक जाति, आयु और भोग रूप होता है॥

सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति नोच्छिन्नक्लेश-मूलः। यथा एव तुषावनद्धा शालितण्डुला अदग्धबीजभावाः प्ररोहसमर्था भवन्ति नापनीततुषा दग्धबीजभावा वा। तथा क्लेशावनद्धः कर्माशयो विपाकप्ररोही भवति, नापनीतक्लेशो न प्रसंख्यानदग्धक्लेशबीजभावोवेति। स च विपाकस्त्रिविधो जाति-रायुर्भोग इति। तत्रेदं विचार्य्यते। किमेकं कर्म एकस्य जन्मनः कारणं अथैकं कर्मानेकजन्माक्षिपतीति। द्वितीयाविचारणा किमनेकं कर्म अनेक जन्म निर्वर्तयति अथानेकं कर्मैकजन्मनि-र्वर्तयतीति। न तावदेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणं। कस्मादना-दिकालप्रचितस्यासंख्येयस्यावशिष्टकर्मणः सांप्रतिकस्य च फल-क्रमानियमात् अनाश्वासो लोकस्य प्रसक्तः स चानिष्ट इति। न चैकं कर्मानेकस्य जन्मनःकारणं। कस्मादनेकेषु जन्मसु एकैकमेव कर्मानेकस्य जन्मनः कारणामित्यवशिष्टस्य विपाककालाभावः प्रसक्तः स चाप्यनिष्ट इति। नचानेकं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणं कस्मादनेकं जन्म युगपन्नसम्भवतीति। क्रमेण वाच्यं। तथा च पूर्वदोषानुषङ्गः। तस्माज्जन्मप्रायणान्तरे कृतः पुण्यापुण्यकर्मा-शयप्रचयो विचित्रः प्रधानोपसर्जनभावेनावस्थितः प्रायणाभिव्यक्तः एकप्रघट्टकेन मिलित्वा मरणं प्रसाध्य सम्मूर्च्छित एकमेवजन्म करोति। तच्च जन्मतेनैवकर्मणा लब्धायुष्कं भवति। तस्मिन्नना-युषि तेनैवकर्मणा भोगः सम्पद्यत इति। असौ कर्माशयो जन्मा-युर्भोगहेतुत्वात् त्रिविपाकोभिधीयत इति। अतः एकभविकः कर्माशय उक्त इति। दृष्टजन्मवेदनीयस्त्वेकविपाकारम्भी भोग-हेतुत्वात्, द्विपाकारम्भी वायुर्भोगहेतुत्वात् नन्दीश्वरवत् नहु-षवदिति। क्लेशकर्मविपाकानुभवनिर्मिताभिस्तुवासनाभिरनादि-

कालसंमूर्च्छितमिदं चित्तं चित्रीकृतमिव सर्वतो मत्स्यजालग्रन्थिभिरिवाततं इत्येता अनेकभवपूर्विका वासनाः। यस्त्वयं कर्माशय, एष एवैकभविक उक्त इति। ये संस्कारा स्मृतिहेतवस्ता वासनाः। ताश्चानादिकालीना इति। यस्त्वसावेकभविकः कर्माशयः स नियतविपाकश्चानियतविपाकश्च। तत्र दृष्टजन्मवेदनीयस्य नियतविपाकस्यैवायं नियमो। नत्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य। कस्मात् योह्यदृष्टजन्मवेदनीयोनियतविपाकस्तस्य त्रयी गतिः। कृतस्याविपक्वस्य नाशः। प्रधानकर्मण्यावापगमनं वा नियतविपाकप्रधानकर्मणाभिभूतस्य वा चिरमवस्थानमिति। तत्र कृतस्याविपक्वस्य नाशो यथा—शुक्लकर्मोदयादिहैव नाशः कृष्णस्य। यत्रेदमुक्तं द्वे द्वे ह वै कर्मणी वेदितव्ये। पापकृतस्यैकोराशिः पुण्यकृतोपहन्ति। तदिच्छस्व कर्माणि सुकृतानि कर्तुमिहैव। ते कर्म कवयो वेदयन्ते। प्रधानकर्मण्यावापगमनं। यत्रेदमुक्तं स्यात्। स्वल्पः संकरः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः कुशलस्य नापकर्षायालम्। कस्मात् कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति। यत्रायमावापगतः स्वर्गेप्यपकर्षमल्पं करिष्यतीति। नियतविपाकप्रधान कर्मणाभिभूतस्य वा चिरमवस्थानं। कथमिति। अदृष्टजन्मवेदनीयस्यैव नियतविपाकस्य कर्मणः समानं मरणमभिव्यक्तिकारणमुक्तं, नत्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य। यत्त्वदृष्टजन्मवेदनीयं कर्मानियतविपाकं तन्नश्येत्, आवापं वा गच्छेत्, अभिभूतं वा चिरमप्युपासीत, यावत् समानकर्माभिव्यञ्जकं निमित्तमस्य विपाकाभिमुखं करोतीति, तद्विपाकस्यैव देशकालनिमित्तानवधारणादियं कर्मगतिश्चित्रा दुर्विज्ञाना चेति। न चोत्सर्गस्यापवादात् निवृत्तिरित्येकभविकः कर्माशयोनुज्ञायत इति॥

अर्थ

जब क्लेश बने रहते हैं तो कर्माशय का विपाक भी शुरू होता है परन्तु उस कर्माशय का नहीं कि जिस की क्लेश मूल कटगई हो। जैसे छिलके से

लिपटे हुए शालि के चांवल कि जिन का बीजभाव दग्ध नहीं हुआ उगने के लायक़ होते हैं और वे चांवल नहीं कि जिन का छिकुला दूर कर दिया गया हो अथवा जिन का बीजभाव जल गया हो। तैसे ही क्लेशों कर के वेष्टित कर्माशय विपाक प्ररोही (अर्थात् जिन का विपाक होवे) होते हैं किन्तु वह कर्माशय नहीं जिन के क्लेश दूर होगये हैं और जिन के क्लेशों का बीज भाव प्रसंख्यान से दग्ध होगया है। वह विपाक तीन प्रकार का है जातिरूप, आयुरूप और भोगरूप। अब यहां पर यह विचारने की बात है कि आया एक कर्म से एक जन्म होता है वा एक कर्म से अनेक जन्म होते हैं। दूसरी बात विचार की यह है कि क्या अनेक कर्म से अनेक जन्म होते हैं वा अनेक कर्म से एक जन्म होता है ? प्रथम तो यह है कि एक कर्म एक जन्म का सबब नहीं होता है क्योंकि अनादि काल के इकट्ठे बचे हुए कर्म और वर्तमान समय के कर्मों के फलों में कोई नियम नहीं रहता है जिस से लोगों का अनाश्वास प्राप्त होता है इस लिये वह अनिष्ट (अर्थात् चाहने के अयोग्य) है॥ पुनः एक कर्म अनेक जन्म का भी कारण नहीं होता है क्योंकि अनेक जन्मों में किये हुए एक एक कर्म से अनेक जन्म जब होंगे तो बाक़ी के कर्मों के फल के लिये वक़्त न रहेगा। वह भी अनिष्ट है॥ ऐसे ही अनेक कर्म अनेक जन्म के कारण नहीं होते क्योंकि अनेक जन्म एक दम नहीं होते क्रम से कहे जा-सक्ते हैं। इस में पूर्व दोष का अनुषङ्ग है। इस से अब सिद्ध होता है कि जन्म और मरण के बीच में जो पाप पुण्य कर्म किये उन की विचित्र प्रचय (अर्थात् समूह) प्रधान और गौण भाव से अवस्थित मरण से अभिव्यक्त (अर्थात् ज़ाहिर) एक व्योपार से मिलकर मरण को सिद्ध करके सम्मिलित एक ही जन्म को करता है। और वह जन्म उस ही कर्म से आयुष्वान होता है और उस आयु में उस ही कर्म से भोग सम्पादन होता है। इस तरह से यह कर्माशय जन्म आयु और भोग की वजह से त्रिविपाक (अर्थात् तीन विपाक वाला) कहलाता है इस लिये कर्माशय एक भविक (अर्थात् एक जन्म में हुआ) कहा गया है। दृष्ट जन्म में जिस का अनुभव हो वह कर्माशय भोग की वजह से एक विपाक का आरम्भ करने वाला होता है और दो विपाक का आरम्भ करने वाला आयु और भोग की वजह से नन्दीश्वर और नहुष की नाईं। क्लेश कर्म और विपाक के अनुभव से बनी हुई वासनाओं ने अनादिकाल से संमूर्छित चित्त को मानो रंग दिया है सो वह मानो मछली के जाल की गाठों से चारों तरफ़ से जकड़ा हुआ है। ये वासना पिछले अनेक जन्मों की चली आती है। और जो यह कर्माशय हैं वह तो एक भविक ही कहा गया है। जो स्मृति के कारण संस्कार हैं वे हो वासना हैं और वे अनादिकाल की हैं। जो एकभविक कर्माशय है वह

नियतविपाक (अर्थात् जिस का फल निश्चित होगया है) और अनियत-विपाक होता है। उस में दृष्टजन्मवेदनीय और नियतविपाक का यह नियम है और अदृष्टजन्मवेदनीय और अनियतविपाक का नहीं। क्योंकि जो अदृष्टजन्म-वेदनीय और अनियतविपाक कर्म है उस की तीन गति होती हैं यानी किये हुए और बिना पके हुए कर्म का नाश, प्रधानकर्म में मिल जाना, अथवा नियतविपाक वाले प्रधानकर्म से दब कर बहुत काल तक ठहरा रहना। इन में से किये हुए बिना पके कर्म का नाश इस तरह पर जैसे शुक्ल (पुण्य) कर्म के उदय से कृष्ण (पाप) कर्म का यहां हीं नाश होजाना। इस में यह उक्त है कि दो दो कर्मराशि जानना चाहिये। पाप किये हुए कर्म की एक राशि। पुण्य किये हुए कर्म उस को नाश करते हैं। इसलिये यहां (अर्थात् इस संसार में) ही अच्छे कर्म करने की इच्छा करो। तुम्हारे कर्म बुद्धिमान लोग जान लेंगे। अब प्रधान कर्म में मिल जाना। जिस विषय में यह उक्त है कि थोड़ासा मिलान पाप कर्म का कि जो प्रायश्चित्त से दूर होसक्ता है व सहन्ला सहित है कुशल कर्म की हानि के लिये काफ़ी नहीं है। क्योंकि कुशल कर्म मेरा और भी बहुत है जिस में यह पाप कर्म मिल कर स्वर्ग में भी थोड़ी हानि करेगा। अब नियत विपाक वाले व प्रधान कर्म से दबे हुए कर्म का बहुत काल तक ठहरा रहना—सो किस तरह पर--अदृष्टजन्मवेदनीय नियत विपाक कर्म का ही मरण समान अभिव्यक्त कारण कहा गया और अदृष्टजन्मवेदनीय अनियत विपाक का नहीं। जो कर्म अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक है वह नष्ट होजावे वा कट जावे वा दब कर बहुत काल तक ठहरा रहे जब तक कि समान कर्म का ज़ाहिर करने वाला कारण उस को विपाक के सन्मुख न करे। उस विपाक ही के देश काल और निमित्त के निश्चय न होने से यह कर्मगति विचित्र और जानने में कठिन है। परन्तु विशेष शास्त्र से सामान्य शास्त्र की निवृत्ति नहीं होती। इसलिये यह ही सम्मति दी जाती है कि कर्माशय एक जन्म पैदा करने वाला होता है॥

सूत्र १४

तेऽह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्य-हेतुत्वात्॥

अर्थ

पुण्य और पाप की वजह से उन (अर्थात् जाति, आयु और भोग) का सुख और दुःख फल होता है॥

भाष्य

ते जन्मायुर्भोगाः पुण्यहेतुकाः सुखफलाः अपुण्यहेतुकाः दुःख-फला इति। यथाचेदं दुःखं प्रतिकूलात्मकं एवं विषयसुखकालेऽपि दुःखमस्त्येव प्रतिकूलात्मकं योगिनः ॥ कथं तदुपपद्यते:—

अर्थ

वे जन्म, आयु और भोग कि जिन का कारण पुण्य है सुख फल वाले होते हैं और जिन का कारण अपुण्य अर्थात् पाप होता है वे दुःख फल वाले हैं। परन्तु जैसे यह दुःख प्रतिकूल रूप है ऐसे ही योगी को विषय सुख के समय में भी प्रतिकूल रूप दुःख ही है॥ वह किस तरह से होता है—

सूत्र १५

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥

अर्थ

परिणाम दुःखता ताप दुःखता और संस्कार दुःखता से व गुणवृत्ति के विरोध से विवेकी जन को सब दुःख ही है॥

भाष्य

सर्वस्यायं रागानुविद्धश्चेतनाचेतनसाधनाधीनसुखानुभव इति। तत्रास्ति रागजः कर्माशयः। तथा च द्वेष्टि दुःखसाधनानि, मुह्यति चेति, द्वेषमोहकृतोप्यस्ति। तथाचोक्तं, नानुपहत्य भूता-न्युपभोगः सम्भवतीति किन्तु हिंसाकृतोप्यस्ति शारीरः कर्माशय इति। विषयसुखं चाविद्येत्युक्तम्। या भोगेषु इन्द्रियाणां तृप्ते-रुपशान्तिः तत्सुखं। या लौल्यादनुपशान्तिस्तद्दुःखं। न चेन्द्रि-याणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यं। कस्मात्। यतो भोगा-भ्यासमनुविवर्द्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणामिति। तस्मा-दनुपायः सुखस्य भोगाभ्यास इति। स खल्वयं वृश्चिकविषभीत इवाशीविषेण दष्टो। यः सुखार्थी विषयाननुवासितो महति दुःख-

पङ्के मग्न इति । एषा परिणामदुःखता नाम प्रतिकूला सुखा-वस्थायामपि योगिनमेव क्लिश्नाति । अथ का तापदुःखता ? सर्वस्य द्वेषानुविद्धश्चेतनाचेतनसाधनाधीनस्तापानुभव इति । तत्रास्ति द्वेषजः कर्माशयः । सुखसाधनानि च प्रार्थयमानः कायेन वाचा मनसा च परिस्पन्दते । ततः परमनुगृह्णात्युपहन्ति चेति । परानुग्रहपीड़ाभ्यां धर्माधर्मानुपचिनोति । स कर्माशयो लोभा-न्मोहाच्च भवतीत्येषा तापदुःखतोच्यते । का पुनः संस्कार दुःख-ता । सुखानुभवात् सुखसंस्काराशयो दुःखानुभवादपि दुःखसं-स्काराशय इति । एवं कर्मभ्यो विपाकेऽनुभूयमाने सुखे दुःखे वा पुनः कर्माशयप्रचय इति । एवमिदमनादिदुःखस्रोतो विप्रसृतं योगिनमेव प्रतिकूलात्मकत्वादुद्वेजयति । कस्मात् अक्षिपात्र-कल्पो हि विद्वानिति । यथोर्णातन्तुरक्षिपात्रे न्यस्तः स्पर्शेन दुःखयति नान्येषु गात्रावयवेषु । एवमेतानि दुःखानि अक्षिपात्र-कल्पं योगिनमेव क्लिश्नन्ति, नेतरं प्रतिपत्तारं । इतरन्तु स्वकर्मो-पहृतं दुःखमुपात्तमुपात्तं त्यजन्तं, त्यक्तं त्यक्तमुपाददानं अनादि-वासनाविचित्रया चित्तवृत्त्या समन्ततोऽनुविद्धमिवाविद्यया, हा-तव्य एवाहङ्कारममकारानुपातिनं जातं जातं वाह्याध्यात्मिको-भयनिमित्तास्त्रिपर्वाणस्तापा अनुप्लवन्ते । तदेवमनादिदुःखस्रो-तसा व्युह्यमानमात्मानं भूतग्रामंचदृष्ट्वा योगी सर्वदुःखक्षय-कारिणं सम्यकदर्शनं शरणं प्रपद्यत इति । गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमिवसर्वं विवेकिनः । प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिरूपा बुद्धिगुणा पर-स्परानुग्रहतन्त्रीभूत्वा शान्तं घोरं मूढं वा प्रत्ययं त्रिगुणमेव वारभन्ते । चलंच गुणवृत्तमिति । क्षिप्रपरिणामिचित्तमुक्तं । रूपातिशया वृत्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते । सामान्यानि तु अतिशयैः सह प्रवर्तन्ते । एवमेते गुणा इतरेतराश्रयेणोपार्जित-

सुखदुःखमोहप्रत्यया इति। सर्वे सर्वरूपा भवन्ति। गुणप्रधानभावकृतस्त्वेषां विशेष इति। तस्मात् दुःखमेव सर्वं विवेकिन इति। तदस्य महतोदुःखसमुदायस्य प्रभवबीजमविद्या। तस्याश्च सम्यग्दर्शनमभावहेतुः। यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहं। रोगो रोगहेतुरारोग्यं भैषज्यमिति। एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव। तद्यथा संसारः संसारहेतुः मोक्षो मोक्षोपाय इति। तत्र दुःखबहुलः संसारो हेयः। प्रधानपुरुषयो संयोगो हेयहेतुः संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानं। हानोपायः सम्यग्दर्शनं। तत्र हातुः स्वरूपं उपादेयं हेयं वा न भवितुमर्हति इति। हाने तस्योच्छेदवादप्रसङ्गः उपादाने च हेतुवादः। उभयप्रत्याख्याने शाश्वतवाद इत्येतत् सम्यग्दर्शनं। तदेतच्छास्त्रं चतुर्व्यूह मित्यभिधीयते॥

अर्थ

सब को यह राग कर के अनुविद्ध और चेतना चेतन साधन के आधीन सुख का अनुभव होता है। तहां राग से उत्पन्न कर्माशय है। ऐसे ही दुःख साधनों से द्वेष करता है और मोह को प्राप्त होता है जिस से द्वेष और मोह कृत कर्माशय होता है। तैसा ही कहा भी है कि भूतों को बिना कष्ट दिये उपभोग नहीं होसक्ता। किन्तु शरीर से किये हुए कर्माशय हिंसाकृत ही होता है। इस से विषय सुख भी अविद्या कहा गया है। जो भोगों से इन्द्रियों की तृप्त होकर उपशान्ति है वह सुख है और जो अतृप्ति से अनुपशान्ति है वह दुःख है और न इन्द्रियों के भोगाभ्यास से तृष्णा विगत हो सक्ती है। क्यों? क्योंकि जैसा जैसा भोगाभ्यास होता है वैसे वैसे राग वृद्धि को प्राप्त होते हैं और इन्द्रियों को कुशलता होती है। तिस से सुख का उपाय भोगाभ्यास नहीं है। जो सुखार्थी है और विषयों के पीछे अपना जीवन समझता है वह बड़े दुःखरूपी कीचड़ में फसा हुआ उस शख्स के मानिन्द है कि जो बीछे के विष से डरा हुआ सांप के विष से डसा गया हो। यह परिणाम दुःखता कहलाती है कि जो प्रतिकूल होकर सुखावस्था में भी योगी को ही दुःखित करती है। अब ताप दुःखता क्या है? सब को द्वेषपूर्वक चेतनाचेतन साधन के आधीन ताप का अनुभव होता है। तो फिर द्वेष से उत्पन्न कर्माशय होता है और सुखसाधनों की इच्छा करता हुआ शरीर बाणी और मन से चेष्टा करता है।

तिस्से फिर दूसरों पर कृपा करता है और कष्ट देता है और दूसरों पर अनुग्रह करने व उन को पीड़ा देने से धर्म और अधर्म को इकट्ठा करता है। यह कर्माशय लोभ और मोह से होता है। यह ताप दुःखता कहलाती है। अब संस्कार दुःखता क्या है ? सुख के अनुभव से सुखसंस्काराशय होता है और दुःख के अनुभव से भी दुःखसंस्काराशय होता है। ऐसे ही कर्मों का सुख और दुःखरूप विपाक के अनुभव करने के बाद फिर कर्माशय का प्रचय होता है। इस तरह पर यह अनादिकाल से बहता हुआ दुःख का सोता प्रतिकूल होने की वजह से योगी ही को उद्विग्न करता है क्योंकि विद्वान नेत्र के समान हैं। जैसे मकड़ी के जाले का तन्तु यदि आंख में पड़जावे तो केवल छूने से ही पीड़ा करता है और अन्य गात्रों के अवयवों पर पड़ा हुआ दुःख नहीं देता ऐसे ही ये सब दुःख अक्षिपात्र के समान योगी को ही क्लेशित करते हैं अन्य अनुभव करने वाले को नहीं। इतर तो अपने कर्मों से उपस्थापित दुःख को प्राप्त हो हो कर छोड़ता है और छोड़ छोड़ कर फिर ग्रहण करता है सो अनादि काल की वासनाओं से विचित्रित चित्तवृत्ती वाली अविद्या से मानो चारों तरफ़ से घिरा हुआ है। छोड़ने योग्य अहङ्कार और ममकार ही में गिरने वाला फिर पैदा होता है और फिर आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःख देने वाले तीन पर्व वाले ताप उस के पीछे पीछे चलते हैं अर्थात् छोड़ते नहीं घेरे ही रहते हैं। अब योगी अपनी आत्मा का अनादिदुःखरूपी सोता से बहता हुआ व संसार को भूतग्राम देख कर सब दुःख दूर करने वाले सम्यक दर्शन की शरण लेता है। गुण वृत्ति के विरोध से भी विवेकी को सब दुःख ही है। क्योंकि प्रख्या (प्रकाश) प्रवृत्ति और स्थिति रूप बुद्धि गुण आपस में अनुग्रह एक दूसरे का कर के शान्त घोर और मूढ़ त्रिगुण प्रत्यय (वृत्ति) ही को आरम्भ करते हैं फिर गुण का स्वभाव ही चल है जिस से चित्त को क्षिप्रपरिणामी (अर्थात् जिस का परिणाम जल्दी २ होवे) कहा गया है। रूपातिशय (अर्थात् धर्म ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य्य) और वृत्यतिशय (अर्थात् शान्त घोर और मूढ़ प्रत्यय) एक दूसरे से विरुद्ध हैं और सामान्य प्रबलों के साथ प्रवृत्त होते हैं। ऐसे ही इन गुणों को एक दूसरे के आश्रय से सुख दुःख और मोह प्रत्यय उपार्जित होते हैं। और सब सब रूप होते हैं व इन का विशेष गौण और प्रधान भाव से ज्ञात है। तिस से विवेकी को सब दुःख ही है। इस बड़े भारी दुःख समूह का उत्पत्ति कारण अविद्या है और इस अविद्या का नाश करने वाला सम्यक दर्शन है। जैसे वैद्यक शास्त्र चार अंग वाला है अर्थात् रोग, रोग का कारण, आरोग्य और औषधि। ऐसे ही यह योगशास्त्र भी चतुर्व्यूह है। अर्थात् संसार, संसार का कारण, मोक्ष,

और मोक्ष का उपाय। इन में से बहुत दुःख वाला संसार छोड़ने योग्य है। प्रधान और पुरुष का संयोग हेय का कारण है। संयोग की अत्यन्त निवृत्ति हान है। हान का उपाय सम्यक दर्शन है। फिर भी छोड़ने वाली आत्मा का स्वरूप छोड़ा और ग्रहण किया नहीं जासक्ता। क्योंकि छोड़ने में उस के नाश की चर्चा है और ग्रहण में कारण कहने पड़ेगा। इसलिये इन दोनों का निषेध है और आत्मा हमेश: रहने वाली है। यह ही शाश्वत वाद सम्यक् दर्शन है। इस तरह पर यह शास्त्र (योग) चतुर्व्यूह कहा जाता है॥

सूत्र १६

हेयं दुःखमनागतं॥

अर्थ

आने वाला दुःख छोड़ने योग्य है॥

भाष्य

दुःखमतीतमुपभोगेनातिवाहितं न हेयपक्षेवर्तते। वर्तमानँच स्वक्षणे भोगारूढ़मिति न तत्क्षणान्तरे हेयतामापद्यते। तस्मात् यदेवानागतं दुःखं तदेवाक्षिपात्रकल्पं योगिनं क्लिश्नाति नेतरं प्रतिपत्तारं। तदेव हेयतामापद्यते। तस्मात् यदेव हेयमिति उच्यते तस्यैव कारणं प्रतिनिर्दिश्यते॥

अर्थ

गुज़रा हुआ दुःख भुक्त होजाने की वजह से छोड़ने में नहीं आता और वर्तमान दुःख अपने समय में भुक्त हो रहा है दूसरे समय में भुक्त नहीं होसक्ता तिस से जो अनागत दुःख है वह ही अक्षिपात्र की सदृश योगी को क्लेशित करता है और किसी अन्य प्रतिपत्ता को नहीं। अत: वह ही छोड़ा जाता है और जो छोड़ने योग्य कहा जाता है उस ही का सबब दिखाया जाता है॥

सूत्र १७

दृष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः॥

अर्थ

दृष्टा (आत्मा) और दृश्य का संयोग हेय (संसार) का कारण है॥

भाष्य

दृष्टा बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुषः। दृश्या बुद्धिसत्वोपारूढ़ा सर्वे धर्माः। तदेतद् दृश्यमयस्कान्तिमणिकल्पं सन्निधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वम्भवति पुरुषस्य दृशिरूपस्य स्वामिनः। अनुभवकर्मविषयतामापन्नमन्यस्वरूपेण प्रतिलब्धात्मकं स्वतन्त्रमपि परार्थत्वात् परतन्त्रं। उभयोर्दृग्दर्शनशक्त्योरनादिरर्थकृतः संयोगो हेयहेतुर्दुःखस्य कारणमित्यर्थः। तथाचोक्तं। तत्संयोगविवर्जनात् स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः। कस्मात्। दुःखहेतोः परिहार्य्यस्य प्रतीकारदर्शनात्। तद्यथा पादतलस्य भेद्यता, कण्टकस्य भेत्तृत्वं, परिहारः कण्टकस्य पादानिष्ठानं पादत्राणव्यवहितेन वाधिष्ठानमेतत्त्रयं यो वेद लोके स तत्र प्रतीकारमारभमाणो भेदजं दुःखं नाप्नोति। कस्मात् त्रित्वोपलब्धिसामर्थ्यादिति। अत्रापि तापकस्य रजसः सत्वमेव तप्यं। कस्मात् तपिक्रियायाः कर्मस्थत्वात्। सत्वे कर्मणि तपिक्रिया नापरिणामिनि निष्क्रिये क्षेत्रज्ञे, दर्शितविषयत्वात्। सत्वे तु तप्यमाने तदाकारानुरोधी पुरुषोनुतप्यत इति दृश्यते। दृश्यस्वरूपमुच्यते॥

अर्थ

दृष्टा (आत्मा) बुद्धि का प्रतिसंवेदी (अर्थात् स्वयं अज्ञात हुआ २ अन्य को जाने) पुरुष है। दृश्य बुद्धिसत्व पर आरूढ़ सब धर्म हैं। सो यह धर्म रूप दृश्य अयस्कान्तिमणि (चुम्बक पत्थर) के सदृश और समीपता ही से उपकार करने वाला भोग्यत्व से दृशिरूप स्वामी पुरुष का स्वं (मिलकियत) होजाता है। और अनुभव कर्म की विषयता को प्राप्त (अर्थात् जिस का अनुभव होता है) और जिस का स्वरूप अन्य के स्वरूप से प्राप्त है और स्वतन्त्र भी है परन्तु परार्थ होने की वजह से परतन्त्र है। दोनों अर्थात् दृक् और दर्शन शक्तियों का अनादि काल से अर्थ कृत संयोग है और वह ही हेयहेतु अर्थात् दुःख का कारण है। तैसा ही कहा भी है कि दृष्टा और दृश्य के संयोग हेतु के विवर्जन से आत्यन्तिक दुःख का प्रतीकार होता है। क्यों? क्योंकि दुःख के कारण का

कि जो दूर हो सका है प्रतीकार दिखाई देता है और वह इस तरह पर—पांय के तले का घायल होना, कांटे का घायल करना, कांटे की रोक यानी पांय का न रखना अथवा जूता पहन कर रखना। ये तीनों जो इस संसार में जानता है वह प्रतीकार कर के घायल करने वाले दुःख को नित्य (जो ऊपर तीन बातें कह आये हैं) के ज्ञान की सामर्थ्य से नहीं भोगता। इस दृष्टान्त में भी तपाने वाले रजोगुण का सत्व ही तपता है। क्योंकि तपिक्रिया की कर्म में स्थिति है अर्थात् सकर्मक है और सत्व जब कर्म है तो तपिक्रिया परिणाम रहित क्रिया शून्य चेतन्न अर्थात् आत्मा में नहीं है क्योंकि आत्मा को तो विषय दिखाये गये हैं हां सत्व के तपने पर उस के अनुरूपी पुरुष का अनुतपन होता है ऐसा देखा गया है॥ अब दृश्य का स्वरूप कहा जाता है:—

सूत्र १८

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्॥

अर्थ

प्रकाश क्रिया और स्थिति स्वभाव वाला पंचभूत और इन्द्रिय रूप, दृश्य है कि जो भोग और मोक्ष के अर्थ है॥

भाष्य

प्रकाशशीलं सत्वं क्रियाशीलं रजः स्थितिशीलं तम इति एते गुणाः परस्परोपरक्तप्रविभागाः परिणामिनः संयोगविभाग-धर्माणः इतरेतरोपाश्रयेणोर्ज्जितमूर्तयः परस्पराङ्गाङ्गित्वेप्य-सम्भिन्नशक्तिप्रविभागास्तुल्यजातीयातुल्यजातीयशक्तिभेदानुपा-तिनः। प्रधानवेलायामुपदर्शितसन्निधाना गुणत्वेपि च व्यापा-रमात्रेण प्रधानान्तर्नीतानुमितास्तिताः पुरुषार्थकर्तव्यतया प्रयु-क्तसामर्थ्या सन्निधिमात्रोपकारिणोऽयस्कान्तिमणिकल्पाः प्रत्य-यमन्तरेण एकतमस्य वृत्तिमनुवर्तमानाः प्रधानशब्दवाच्या भव-न्ति। एतद् दृश्यमित्युच्यते। तदेतभूतेन्द्रियात्मकं भूतभावेन पृथिव्यादिना सूक्ष्मस्थूलेन परिणमते। तथेन्द्रियभावेन श्रोत्रा-

दिना सूक्ष्मस्थूलेनपरिणमत इति। तत्तु नाप्रयोजनं। अपि तु प्रयोजनमुररीकृत्य प्रवर्तत इति भोगापवर्गार्थं हि तद् दृश्यं पुरुषस्येति। तत्रेष्टानिष्टगुणस्वरूपावधारणं अविभागापन्नं भोगो, भोक्तुः स्वरूपावधारणमपवर्ग इति। द्वयोरतिरिक्तमन्यद्दर्शनं नास्ति। तथाचोक्तं, अयन्तु खलु त्रिषु गुणेषु कर्तृष्वकर्तरि च पुरुषेऽतुल्यातुल्यजातीये चतुर्थे तत्क्रियासाक्षिण्युपनीयमानान सर्वभावानुपपन्नाननुपश्यन्नदर्शनमन्यत्सङ्कत इति। तावेतौ भोगापवर्गौ बुद्धिकृतौ बुद्धावेव प्रवर्तमानौ कथं पुरुषेऽपदिश्येते इति। यथा विजयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनपदिश्यते। स हि तस्य फलस्य भोक्तेति। एवं बन्धमोक्षौ बुद्धाविववर्तमानौ पुरुषेऽपदिश्यते। स हि तत्फलस्य भोक्तेति। बुद्धेरेव पुरुषार्थापरिसमाप्तिर्बन्धस्तदर्थावसायो मोक्ष इति। एतेन ग्रहणधारणोहाऽपोहक्रिया तत्वज्ञानाभिनिवेशा बुद्धौ वर्तमानाः पुरुषेऽध्यारोपितसद्भावाः स हि तत्फलस्य भोक्तेति। दृश्यानां तु गुणानां स्वरूपभेदावधारणार्थमिदमारभ्यते॥

अर्थ

प्रकाश स्वभाव वाला सत्व है। क्रिया स्वभाव वाला रज है। स्थितिशील वाला तम है। इन गुणों के प्रविभाग एक दूसरे से मिले हुए हैं और इन का परिणाम और आविर्भाव व तिरोभाव होता रहता है। एक दूसरे के उपाश्रय से ये गुण अपनी अपनी मूर्त्ति (अर्थात् स्वरूप) हासिल करते हैं। एक दूसरे के अङ्ग और अङ्गी होजाने पर भी इन की शक्ति के प्रविभाग सम्मिलित नहीं हैं तथापि तुल्यजातीय और अतुल्यजातीय शक्ति का भेद इन में होता है। प्रधानता के समय में (जैसे दिव्य शरीर जब उत्पन्न होता है तो सतोगुण प्रधान होता है और रजतम अङ्ग रहते हैं मनुष्य शरीर होने पर रजोगुण प्रधान होता है और सतोगुण व तमोगुण अङ्ग के तौर पर रहते हैं और तिर्य्यक योनि होने पर तमोगुण की प्रधानता होती है और सतोगुण व रजोगुण अङ्गभाव से रहते हैं)

इन की समीपता उपदर्शित है अर्थात् एक गुण प्रधान रहता है और बाकी के गुण समीपवर्ती अङ्गभाव से रहते हैं और गौण भाव को प्राप्त होने पर भी केवल व्यापार ही से उन का प्रधानान्तर्नीत होना अनुमित है। पुरुषार्थ की कर्तव्यता से इन गुणों की सामर्थ्य नियमित है। ये गुण सन्निधिमात्रता ही से उपकार करने वाले हैं और अयस्कान्तमणि (चुम्बक पत्थर) के सदृश हैं व धर्मादिक निमित्त रूप प्रत्यय के बिना ही तीनों में से एक के पिछाड़ी चलने वाले हैं। सो तीनों गुण प्रधान शब्द करके कहे जाते हैं और यह दृश्य कहलाता है। सो यह भूत और इन्द्रिय रूप है। भूत भाव से तो पृथ्वी आदिक स्थूल और सूक्ष्म कर के परिणमन होता है तैसे ही इन्द्रिय भाव से श्रोत्रादि स्थूल और सूक्ष्म कर के परिणाम को प्राप्त होता है। सो भी बिना मतलब नहीं बल्कि प्रयोजन को रखकर प्रवृत्त होता है क्योंकि पुरुष के भोग और अपवर्ग के अर्थ वह दृश्य है। इन दोनों में से जो इष्ट और अनिष्ट गुण के स्वरूप का अवधारण अर्थात् निश्चय जो विभाग में आपन्न न हो अर्थात् अपने स्वरूप की सारूप्यता में आपन्न हो भोग है और भोक्ता के स्वरूप का जो निश्चय है सो अपवर्ग है। इन दोनों से अतिरिक्त और कोई दर्शन नहीं है और तैसा ही पंचशिख ने कहा भी है कि एक वेदान्त का आचार्य्य यह देख कर कि तीनों गुण तो कर्ता हैं और चौथा पुरुष कुछ करने वाला नहीं और न जिस में कोई तुल्यातुल्य जातीय भाव है व जो तीनों गुणों की क्रिया का साक्षी है और जिस में उपपन्न सर्व भाव लगाये जाते हैं किसी अदर्शन की शंका करता है कि ये दोनों भोग और अपवर्ग बुद्धिकृत हैं और बुद्धि ही में वर्तमान हैं फिर पुरुष में कैसे लगाये जाते हैं? देखो जैसे जीत हार योद्धाओं की राजा में आरोपित होती है क्योंकि वह उस फल का भोक्ता है तैसे ही बन्ध और मोक्ष बुद्धि ही में वर्तमान हैं परन्तु वे पुरुष के साथ लगाये जाते हैं क्योंकि पुरुष उन के फल का भोक्ता है। बुद्धि ही के पुरुषार्थ की अपरिसमाप्ति बन्ध है और उस अर्थ की समाप्ति मोक्ष है। इस से जो बुद्धिकृत १ ग्रहण (अर्थात् स्वरूपमात्र से अर्थ का ज्ञान) २ धारण (अर्थात् स्मृति) ३ ऊह (अर्थात् उस अर्थ की विशेषता का विचार) ४ अपोह (अर्थात् समारोपित भावों का दूर करना) ५ क्रिया (अर्थात् बौद्ध व्यापार) ६ तत्वज्ञान (अर्थात् अर्थ का निश्चय) ७ अभिनिवेश (अर्थात् हानोपादान यानी त्याग और ग्रहण) हैं वे बुद्धि में वर्तमान हैं परन्तु उन का सद्भाव पुरुष में आरोपित होता है क्योंकि वह उन के फल का भोग करने वाला है। अब दृश्य जो गुण हैं उन के स्वरूप भेद के निश्चय के लिये अगाड़ी आरम्भ किया जाता है :—

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥

अर्थ

विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग गुणों के पर्व हैं ॥

भाष्य

तत्राकाशवाय्वग्न्युदकभूमयोभूतानि शब्दस्पर्शरूपरस-गन्धतन्मात्राणामविशेषाणां विशेषाः। तथा श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जि-ह्वाघ्राणानि बुद्धीन्द्रियाणि। वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मे-न्द्रियाणि एकादशं मनः सर्वार्थमित्येतान्यस्मितालक्षणस्याविशे-षस्य विशेषा। गुणानामेष षोड़शको विशेषपरिणामः षड़विशेषाः। तद्यथा शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्ध-तन्मात्रं चेत्येकद्वित्रिचतुःपञ्चलक्षणाः शब्दादयः पंचाविशेषाः षष्ठश्चाविशेषोऽस्मितामात्र इति। एते सत्तामात्रस्यात्मनो महतो षड़विशेषपरिणामाः यत्ततपरमविशेषेभ्यो लिङ्गमात्रं महत्तत्वं। तस्मिन्नेते सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय विवृद्धकाष्ठामनुभवन्ति, प्रतिसंसृज्यमानाश्च। तस्मिन्नेव सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय यत्तन्निःसत्तासत्तं निःसदसन्निरसदव्यक्तमलिङ्गं प्रधानं तत्प्रती-यन्तीति। एष तेषां लिङ्गमात्रः परिणामो। निःसत्तासत्तंचा-लिङ्गपरिणाम इति। अलिङ्गावस्थायां न पुरुषार्थो हेतुर्नालि-ङ्गावस्थायामादौ पुरुषार्थता कारणं भवतीति न तस्याः पुरुषा-र्थताकारणं भवतीति नासौ पुरुषार्थकृतेति नित्याख्यायते। त्रयाणां त्ववस्थाविशेषाणामादौ पुरुषार्थता कारणं भवति, स चार्थो हेतुर्निमित्तकारणं भवतीत्यनित्याख्यायते। गुणास्तु सर्व धर्मानुपातिनो न प्रत्यस्तमयंते नोपजायन्ते। व्यक्तिभिरेवाती-

तानागतव्ययागमवतीभिः गुणान्वयिनीभिरुपजनापायधर्मका इव प्रत्यवभासन्ते यथा देवदत्तो दरिद्राति, कस्मात्, यतोऽस्य म्रियन्ते गाव इति। गवामेव मरणात्तस्य दरिद्राणं न स्वरूपहानादिति समः समाधिः। लिङ्गमात्रमलिङ्गस्य प्रत्यासन्नं। तत्र तत् संसृष्टं विविच्यते क्रमानतिवृत्तेः तथा षड्विशेषा लिङ्गमात्रे संसृष्टा विविच्यन्ते परिणामक्रमनियमात् तथा तेष्वविशेषेषु भूतेन्द्रियाणि संसृष्टानि विविच्यन्ते। तथाचोक्तं पुरस्तान्नविशेषेभ्यः परं तत्वान्तरमस्तीति विशेषाणां नास्ति तत्वान्तरपरिणामस्तेषान्तु धर्मलक्षणावस्था परिणामा व्याख्यायिष्यन्ते। व्याख्यातं दृश्यम्। अथ दृष्टुः स्वरूपावधारणार्थमिदमारभ्यते—

अर्थ

आकाश वायु अग्नि जल और भूमि भूत हैं। ये शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध तन्मात्राओं के कि जो अविशेष कहलाते हैं विशेष हैं। तैसे ही श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा नासिका बुद्धीन्द्रिय हैं और वाणी, हाथ, पांय, गुदा और लिङ्ग कर्मेन्द्रिय हैं और ग्यारवां दसो इन्द्रियों के लिये मन है। ये ग्यारह अस्मिता लक्षण वाले अविशेष के विशेष हैं। यह गुणों का सोलह प्रकार वाला विशेष परिणाम है। छै अविशेष हैं अर्थात् शब्द तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र, रूप तन्मात्र, रस तन्मात्र और गन्ध तन्मात्र जो एक दो तीन चार और पांच लक्षण वाले हैं और छठवां अविशेष अस्मितामात्र है। ये सत्तामात्र स्वरूप महत्तत्व के परिणाम हैं। जो छै अविशेषों से परें लिङ्गमात्र (लीनं अर्थं गमयतीति लिङ्गं अर्थात् आप तो लय को प्राप्त हो और जिस में वह लय हो उस का वह हो ज्ञापक हो उस को लिङ्ग कहते हैं) महत्तत्व है उस सत्तामात्र महत्तत्व में ये वृद्ध होते हैं व लीन होजाते हैं और उस ही सत्तामात्र महत्तत्व में स्थित होकर निःसत्तासत्त (जो कार्यकरण में समर्थ है वह सत्ता है और जो असमर्थ है वह असत्ता है अतः असत्ता तो छै अविशेष कहलाते हैं और सत्ता लिङ्गमात्र है) निःसदसत् (अर्थात् स्थूल सूक्ष्म स्वरूप रहित क्योंकि विशेष तो सत् कहलाता है और अविशेष असत् है) निरसत् (अर्थात् तुच्छ रूप कार्य से रहित) अव्यक्त (व्यक्तरूपता से रहित) अलिङ्ग (अर्थात् जो किसी अन्य में लीन न हो) प्रधान (अर्थात् गुणों की साम्यावस्था) में लीन होजाते हैं। यह महत्तत्व उन अविशेषों का लिङ्गमात्र

परिणाम है और निसत्तासत्त अलिङ्ग परिणाम है। अलिङ्गावस्था में पुरुषार्थ हेतु नहीं है। अलिङ्गावस्था में आदि में न तो पुरुषार्थता कारण होती है और न उस का पुरुषार्थता कारण है। इसलिये वह पुरुषार्थकृत नहीं है बल्कि नित्य कहलाता है। परन्तु तीन विशेष अवस्थाओं की आदि में पुरुषार्थता कारण होती है और वह पुरुषार्थता हेतु निमित्त कारण है अत: तीनों अव-स्थाओं को अनित्य कहते हैं। गुण तो सब धर्मों में अन्वित हैं और न वे पैदा होते हैं और न उन का क्षय होता है। वे अतीत अनागत, तिरोभाव को प्राप्त और आविर्भाव को प्राप्त गुणों के अन्वय करने वाली व्यक्तियों से उत्पन्न और नाश धर्म वाले से मालूम होते हैं। मस्लन् देवत्त दरिद्री है। क्यों है ? क्योंकि उस की गायें मर्ती हैं। गायों ही के मरने से उस की दरिद्रता है अपने स्वरूप को हानि से नहीं। ऐसा ही समाधान गुणों के विषय में है। लिङ्गमात्र अलिङ्ग के समीप है। उस अलिङ्ग में वह लिङ्गमात्र मिला हुआ ख़याल किया जाता है क्योंकि क्रम टूटता नहीं। तैसे ही छै अविशेष लिङ्गमात्र में मिले हुए परिणामक्रम की वजह से ख़याल किये जाते हैं। तैसे ही उन अविशेषों में भूतेन्द्रिय मिली हुई समझी जाती हैं। ऐसा ही पहिले भी कहा है। अविशेषों से परें कोई तत्वान्तर नहीं है इसलिये विशेषों का कोई तत्वान्तर परिणाम नहीं है। उन के धर्म लक्षण और अवस्था परिणामों का व्याख्यान अगाड़ी होगा। दृश्य का व्याख्यान होगया अब द्रष्टा के स्वरूप के निश्चय के अर्थ यह आरम्भ किया जाता है:—

सूत्र २०

दृष्टा दृशिमात्रः शुद्धोपि प्रत्ययानुपश्यः ॥

अर्थ

दृष्टा (अर्थात् आत्मा) प्रकाशमात्र है और शुद्ध भी है तथापि बुद्धिप्रत्ययानु-रूप है अर्थात् बुद्धिप्रत्ययों को अनुकाररूप कर के देखता है ॥

भाष्य

दृशिमात्र इति। दृक्शक्तिरेव विशेषणापरामृष्टेत्यर्थः। स पुरुषो बुद्धेः प्रतिसंवेदी। स बुद्धेर्न सरूपो नात्यन्तं विरूप-इति। न तावत सरूपः। कस्मात् ? ज्ञाताज्ञातविषयत्वात् परि णामिनी हि बुद्धिस्तस्याश्च विषयो गवादिर्घटादिर्ज्ञातश्चाज्ञातश्चेति

परिणामित्वं दर्शयति। सदाज्ञातविषयत्वन्तु पुरुषस्यापरिणामित्वं परिदीपयति। कस्मात्? नहि बुद्धिश्च नाम, पुरुषविषयश्चस्याद्-गृहीतागृहीताचेति सिद्धं पुरुषस्य सदाज्ञातविषयत्वं ततश्चा-परिणामित्वमिति। किंच परार्थी बुद्धिः संहत्यकारित्वात् स्वार्थः पुरुष इति। तथा सर्वार्थाध्यवसायकत्वात् त्रिगुणा बुद्धिस्त्रिगुण-त्वादचेतनेति गुणानान्तूपद्रष्टा पुरुष इत्यतो न सरूपः। अस्तु तर्हि विरूप इति। नात्यन्तं विरूपः। कस्मात्? शुद्धोप्यसौ प्रत्य-यानुपश्यो यतः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति। तमनुपश्यन्न तदात्मापि तदात्मक इव प्रत्यवभासते। तथाचोक्तं। अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्ति-मनुपतति। तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकार-मात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि बुद्धिवृत्तिरित्याख्यायते॥

अर्थ

दृशिमात्र से मुराद यह है कि द्रष्टा दृक्शक्ति ही है अर्थात् विशेषणों से रहित है। वह पुरुष प्रत्यकरूप करके बुद्धि का जानने वाला है और वह बुद्धि न तो सरूप है और न अत्यन्त विरूप है। प्रथम वह सरूप नहीं है। क्यों? क्योंकि बुद्धि ज्ञात और अज्ञात होने की वजह से परिणाम वाली है। उस का विषय गौ आदि व घट आदि ज्ञात और अज्ञात होने से परिणामित्व को दिखाते हैं और हमेश: जानकार होने से पुरुष को अपरिणामता ज़ाहर होती है। क्यों? क्योंकि ऐसा नहीं है कि बुद्धि जिस का नाम होवे और पुरुष से प्रकाशी जाय व पुरुष ही से गृहीत और अगृहीत न हो। इस से पुरुष का सदाज्ञातविषयत्व और फिर उस से अपरिणामित्व सिद्ध हुआ और भी देखो। मिल करके कार्य्य सिद्ध करने से, बुद्धि परार्थी अर्थात् दूसरे का अर्थ सिद्ध करने वाली है और पुरुष स्वार्थ है। तैसे ही सब अर्थ के निश्चय कराने से बुद्धि त्रिगुणा है और त्रिगुण होने से अचेतना है और गुणों का उपद्रष्टा पुरुष है इस से वह सरूप नहीं। तो विरूप होगा। तो अत्यन्त विरूप भी नहीं। क्यों नहीं? क्योंकि वह शुद्ध भी है तथापि प्रत्ययानुपश्य है जिस से बौद्ध प्रत्यय को अनुकाररूप से देखता है और उस को देखता हुआ भी तद्रूप न होने पर भी

तद्रूप सा भासित होता है। तैसा हो कहा भी है। भोक्तृ शक्ति परिणाम रहित है और न उस का किसी अन्य वस्तु में संक्रमण होता है परन्तु परिणाम होने वाले अर्थ में प्रतिसंक्रमित सो हुई हुई उस की वृत्ति के अन्वित होजाती है और उस भोक्तृ शक्ति के बुद्धि वृत्ति के साथ कि जिस को चैतन्य का उपराग प्राप्त है अनुकारमात्र होने से भोक्तृ शक्ति से अभिन्न बुद्धि वृत्ति कही जाती है॥

सूत्र २१

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा॥

अर्थ

उस भोक्ता ही के अर्थ दृश्य का स्वरूप है॥

भाष्य

दृशिरूपस्य पुरुषस्य कर्मविषयतामापन्नं दृश्यमिति। तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा भवति स्वरूपं भवतीत्यर्थः। ततश्च स्वरूपन्तु पररूपेण प्रतिलब्धात्मकं भोगापवर्गार्थतायां कृतायां पुरुषेण न दृश्यत इति स्वरूपहानात् अस्य नाशः प्राप्तः न तु विनश्यति॥ कस्मात्

अर्थ

दृशिरूप पुरुष की कर्मविषयता अर्थात् भोग्यता को आपन्न दृश्य है इस लिये उस (अर्थात् पुरुष) का अर्थ ही दृश्य की आत्मा यानी स्वरूप होता है। तिस से स्वरूप (दृश्य का) पर (अर्थात् दृष्टा) के रूप से प्रतिलब्ध है और जब भोग और अपवर्ग कृत होजाते हैं तो पुरुष उस को नहीं देखता और स्वरूप-हान से इस का (अर्थात् दृश्य का) नाश है परन्तु वह विनाश को प्राप्त नहीं होता। क्यों?

सूत्र २२

कृतार्थं प्रतिनष्टमप्यनष्टंतदन्यसाधारणत्वात्॥

अर्थ

जिस पुरुष का अर्थ कृत होगया है उस के प्रति दृश्य नष्ट है परन्तु अन्य पुरुषों के लिये साधारण होने से वह अनष्ट है॥

भाष्य

कृतार्थमेकं पुरुषं प्रति दृश्यं नष्टमपि नाशं प्राप्तमप्यनष्टं तदन्यपुरुषसाधारणत्वात्। कुशलं पुरुषं प्रति नाशं प्राप्तमप्य-

कुशलान् पुरुषान् प्रत्यकृतार्थमिति तेषां दृशेः कर्मविषयतामापन्नं लभते एव पररूपेणात्मरूपमिति । अतश्च दृग्दर्शनशक्त्योर्नित्यत्वादनादिः संयोगोव्याख्यात इति । तथाचोक्तं धर्मिणामनादिसंयोगाद्धर्ममात्राणामप्यनादिसंयोग इति । संयोगस्वरूपाभिधित्सयेदं सूत्रं प्रवृत्ते ॥

अर्थ

जिस पुरुष का अर्थ कृत होगया है उस के प्रति दृश्य नष्ट अर्थात् नाश को प्राप्त भी है परन्तु अन्य पुरुषों को उस के साधारण होने से वह अनष्ट है अर्थात् कुशल पुरुषों के प्रति वह नाश को प्राप्त है और जो पुरुष कुशल नहीं हैं उन के लिये अकृतार्थ है जिस से मतलब यह है कि उन के चेतन की भोग्यता को प्राप्त दृश्य अपने रूप को पर रूप कर के प्राप्त है। अतः दृक् और दर्शन शक्तियों के नित्यत्व से संयोग अनादि कहा जाता है और ऐसा ही कहा भी है कि धर्मियों के अनादि संयोग से धर्ममात्रों का भी अनादि संयोग है॥ संयोग स्वरूप का ज़ाहर करने वाला यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है :—

सूत्र २३

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुःसंयोगः॥

अर्थ

स्व (अर्थात् दृश्य) और स्वामी (अर्थात् पुरुष) की शक्तियों के स्वरूप की उपलब्धि जिस के द्वारा हो वह संयोग है॥

भाष्य

पुरुषः स्वामी दृश्येन स्वेन दर्शनार्थं संयुक्तस्तस्मात् संयोगाद्दृश्यस्योपलब्धिर्या स भोगः। या तु द्रष्टुः स्वरूपोपलब्धिः सोपवर्गः। दर्शनकार्यावसानः संयोग इति। दर्शनं वियोगस्य कारणमुक्तं। दर्शनमदर्शनस्य प्रतिद्वन्द्वीति। अदर्शनं संयोगनिमित्तमुक्तं। नात्र दर्शनं मोक्षकारणमदर्शनाभावादेव बन्धाभावः स मोक्ष इति। दर्शनस्य भावे बन्धकारणस्यादर्शनस्य नाश इत्यतो दर्शनं ज्ञानं कैवल्यकारणमुक्तं। किंचेदमदर्शनं नाम ? किं गुणानाम-

धिकारः आहोस्विद्दृशिरूपस्य स्वामिनो दर्शितविषयस्य चित्तस्यानुत्पादः स्वस्मिन् दृश्ये विद्यमाने योदर्शनाभावः। किमर्थवत्ता गुणानामथाविद्या स्वचित्तेन सह निरुद्धा। स्वचित्तस्योत्पत्तिबीजं। किं स्थितिसंस्कारक्षये गतिसंस्काराभिव्यक्तिः। यत्रेदमुक्तं। प्रधानं स्थित्यैव वर्तमानं विकाराकारणादप्रधानं स्यात्तथा गत्यैव वर्तमानं विकारनित्यत्वादप्रधानं स्यात्। उभयथा चास्य वृत्तिः प्रधानव्यवहारं लभते। नान्यथा। कारणान्तरेष्वपि कल्पितेष्वेव समानश्चर्चः। दर्शनशक्तिरेवादर्शनमित्येके। प्रधानस्यात्मख्यापनार्था प्रवृत्तिरितिश्रुतेः। सर्वबोध्यबोधसमर्थः प्राक् प्रवृत्तेः पुरुषो न पश्यति सर्वकार्य्यकरणसमर्थं दृश्यं तदा न दृश्यत इति। उभयस्याप्यदर्शनं धर्म इत्येके। तत्रेदं, दृश्यस्य स्वात्मभूतमपि पुरुषप्रत्ययमपेक्ष्य दर्शनं दृश्यधर्मत्वेन भवति। तथा पुरुषस्यानात्मभूतमपि दृश्यप्रत्ययमपेक्ष्य पुरुषधर्मत्वेनेवादर्शनमवभासते। दर्शनं ज्ञानमेवादर्शनमिति केचिदभिदधति इत्येते शास्त्रगता विकल्पास्तत्र विकल्पबहुत्वमेतत् सर्वपुरुषाणां गुणसंयोगे साधारणविषयं। यस्तु प्रत्यक्चेतनस्य स्वबुद्धिसंयोगः॥

अर्थ

पुरुष स्वामी स्व अर्थात् दृश्य से दर्शन के अर्थ यानी दृश्य की उपलब्धि के निमित्त संयुक्त है। तिस संयोग से जो दृश्य की उपलब्धि है वह भोग है और जो दृष्टा के स्वरूप की उपलब्धि है वह अपवर्ग है। आत्मदर्शनकार्य की समाप्ति संयोग है और दृक् और दृश्य के वियोग का कारण दर्शन कहा जाता है। और वह अदर्शन का विरोधी है। अदर्शन संयोग का कारण कहा जाता है। तो दर्शन मोक्ष का कारण नहीं। अदर्शन के अभाव से ही बन्ध का अभाव होता है और वह ही मोक्ष है। दर्शन के होने पर बन्ध के कारण अदर्शन का नाश होता है इसलिये दर्शन अर्थात् ज्ञान कैवल्य अर्थात् मोक्ष का कारण कहा जाता है। अब अदर्शन जिस का नाम है वह क्या है? (१) क्या गुणों का अधिकार अदर्शन है अथवा (२) दृशिरूप स्वामी के कि जिस को विषय दिखाये गये हैं चित्त का अनुत्पाद (शक्तिरूप करके चित्त की स्थिति) है यानी अपुन

(अर्थात् पुरुष) में दृश्य विद्यमान होते जो दर्शन का अभाव है वा (३) गुणों की अर्थवत्ता है वा (४) अविद्या जो अपने चित्त के साथ निरुद्ध रहती है और अपने चित्त की उत्पत्ति का कारण होती है। अथवा (५) क्या स्थिति संस्कार के नाश होने पर गतिसंस्कार (अर्थात् महदादि विकार का आरम्भण) की अभिव्यक्ति यानी प्रादुर्भाव है। इस में यह कहा जाता है कि प्रधान स्थिति ही से वर्तमान और बिकार का कारण न होने से अप्रधान होवे और ऐसे ही केवल गति से वर्तमान विकार की नित्यता से अप्रधान होवे। सो नहीं। दोनों तरह से इस की वृत्ति प्रधान व्यवहार को प्राप्त होती है। और तरह से नहीं। कल्पित अन्य कारणों में भी ऐसा ही विचार है। (६) बाज़े यह मानते हैं कि दर्शन शक्ति ही अदर्शन है। क्योंकि यह ब्राह्मण वाक्य है कि अपने जताने के लिये प्रधान की प्रवृत्ति है। सब दृश्य के जानने के समर्थ पुरुष प्रधान को प्रवृति के पूर्व सब कार्य के करने में समर्थ दृश्य को नहीं देखता और उस समय दृश्य भी नहीं दिखाई देता। (७) बाज़े यह कहते हैं कि दोनों का धर्म ही अदर्शन है। उस में यह विचारा जाता है कि दृश्य का अपने में उत्पन्न पुरुष विषयक प्रत्यय की अपेक्षा लेकर दर्शन दृश्यधर्म की वजह से होता है और ऐसे ही पुरुष का अपने में अनुत्पन्न दृश्य प्रत्यय की अपेक्षा लेकर पुरुष के धर्म की वजह से अदर्शन मालूम देता है। (८) बाज़े कहते हैं कि दर्शन अर्थात् ज्ञान ही अदर्शन है। ये आठो सांख्य शास्त्र के विकल्प हैं। और यह विकल्प बहुत्व सब पुरुषों को गुण के संयोग में साधारण विषय है। अब जो दृश्य का अपनी बुद्धि के साथ संयोग है (अब अगाड़ी के सूत्र को जोड़ो)॥

सूत्र २४

तस्य हेतुरविद्या ॥

अर्थ

उस का कारण अविद्या है॥

भाष्य

विपर्य्ययज्ञानवासनेत्यर्थः। विपर्य्यज्ञानवासनावासिता न कार्य्यनिष्ठां पुरुषख्यातिं बुद्धिः प्राप्नोति, साधिकारा पुनरावर्त्तते। सा तु पुरुषख्यातिपर्य्यवसाना कार्य्यनिष्ठां प्राप्नोति, चरिताधिकारा निवृत्तादर्शना, बन्धकारणाभावान्न पुनरावर्त्तते। अत्र कश्चित् षण्डकोपाख्यानेनोद्घाटयति। मुग्धया भार्य्ययाभिधीयते, षण्डक,

आर्य्यपुत्रापत्यवतीमेभगिनी किमर्थं नाहमिति। स तामाह मृत-स्तेऽहमपत्यामुत्पादयिष्यामि इति। तथेदं विद्यमानं ज्ञानं चित्त-निवृत्तिं न करोति, विनष्टं करिष्यतीतिका प्रत्याशा तत्राचार्य्य-देशीयो वक्ति, ननु बुद्धिनिवृत्तिरेव मोक्षोदर्शनकारणाभावात् बुद्धिनिवृत्तिस्तच्चादर्शनं बन्धकारणं, दर्शनान्निवर्तते। तत्रचित्त-निवृत्तिरेव मोक्षः। किमर्थमस्थाने वास्यमतिविभ्रमम्। हेयं दुःखं हेयकारणंच संयोगाख्यं सनिमित्तमुक्तमतः परं हानं वक्तव्यम्॥

अर्थ

अविद्या अर्थात् विपर्य्यय ज्ञान की बासना। जो बुद्धि विपर्य्यय ज्ञान बासना में बसी हुई है वह पुरुष ख्याति को कि जो दर्शन कार्य्य को अवधि है प्राप्त नहीं होती परन्तु अधिकारयुक्त होने से फिर लौट आती है। और वह जब पुरुष ख्याति में समाप्त होजाती है तो कर्तव्यता की अवधि को प्राप्त हो जाती है क्योंकि जिस का अधिकार चरित होगया और अदर्शन अर्थात् विपर्य्यय ज्ञान बासना निवृत्त होगई वह बन्ध कारण के अभाव से फिर नहीं लौटती। इस का कोई पुरुष एक नपुंसक के उपाख्यान से ठट्ठा करता है। भोली भार्य्या ने अपने पति से कहा कि हे नपुंसक मेरी बहन के तो लड़के वाले हैं मेरे क्यों नहीं। नपुंसक ने उस से कहा कि मैं मर कर तेरे लड़के वाले उत्पन्न करूंगा। तैसे ही विद्यमान ज्ञान चित्त की निवृत्ति तो न करेगा पर जब नष्ट होजायगा तब करेगा इस को क्या उम्मेद। अब एक अधूरा आचारी कहता है कि बुद्धि (ज्ञान) की निवृत्ति ही मोक्ष है और अदर्शन के कारण के अभाव से बुद्धि की निवृत्ति है और वह अदर्शन बन्धका कारण है सो दर्शन से निवृत्ति होता है। (जबाब) तो इस से भी चित्त की निवृत्ति ही मोक्ष हो रही। फिर अनवसर क्यों इस को मति का विभ्रम हुआ। दुःख छोड़ने योग्य है और संयोग नामक हेयकारण सनिमित्त कहा गया इसलिये हान कहा जाता है॥

सूत्र २५

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥

अर्थ

उस अदर्शन के अभाव से बुद्धि और पुरुष का जो संयोग है उस का अभाव होता है और यह ही हान उस दृष्टा का कैवल्य अर्थात् अमिश्री भाव है॥

भाष्य

तस्यादर्शनस्याभावात् बुद्धिपुरुषसंयोगाभावः आत्यन्तिको बन्धनोपरम इत्यर्थः। एतद्धानं तद्दृशेः कैवल्यं पुरुषस्यामिश्रीभावः पुनरसंयोगो गुणैरित्यर्थः। दुःखकारणनिवृत्तौ दुःखोपरमो हानं। तदा स्वरूपप्रतिष्ठः पुरुष इत्युक्तम्। अथ हानस्य कः प्रत्युपाय इति ?

अर्थ

उस अदर्शन के अभाव से जो बुद्धि और पुरुष के संयोग का अभाव है वह ही आत्यन्तिक बन्धन का उपरम है। यह हान उस दृक्शक्ति का कैवल्य अर्थात् पुरुष का अमिश्री भाव और फिर गुणों के साथ असंयोग है। दुःख के कारण की निवृत्ति होने पर दुःख का उपरम है और वह हान है। उस समय पुरुष अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है ॥ अब हान का प्रत्युपाय क्या है ?

सूत्र २६

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः॥

अर्थ

संशय और विपर्य्यय की गन्धि से रहित जो विवेकख्याति है वह हान का उपाय है ॥

भाष्य

सत्वपुरुषान्यताप्रत्ययो विवेकख्यातिः। सा त्वनिवृत्तमिथ्याज्ञानाप्लवते। यदा मिथ्याज्ञानं दग्धबीजभावं वन्ध्यप्रसवं सम्पद्यते तदा विधूतक्लेशरजसः सत्वस्य परे वैशारद्ये ऽपरस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्तमानस्य विवेकप्रत्ययप्रवाहो निर्मलो भवति। सा विवेकख्यातिरविप्लवा हानस्योपायः। ततो मिथ्याज्ञानस्य दग्धबीजभावोपगमः पुनश्चाप्रसव इत्येष मोक्षस्य मार्गो हानस्योपाय इति ॥

अर्थ

सत्वपुरुषान्यता (अर्थात् सत्व और पुरुष अलग अलग हैं) जो चित्त की वृत्ति है वह विवेकख्याति है। वह कि जिस से मिथ्या ज्ञान निवृत्ति नहीं हुआ

कार्य्य करने में समर्थ नहीं होती। और जब मिथ्या ज्ञान जले हुए बीज की भाव को कि जिस में उत्पत्ति शक्ति नहीं रही, प्राप्त होता है तब सत्व की कि जिस का क्लेशरूपीमल बिल्कुल धुलगया है पर स्वच्छता होने पर, अपर वशीकार संज्ञा में वर्तमान सत्व का विवेक प्रत्यय का प्रवाह निर्मल होता है। वह विवेकख्याति मिथ्याज्ञान से रहित हान का उपाय है। उस से मिथ्याज्ञान को जले हुए बीज के भाव का उपगम होता है और फिर उत्पत्ति का अभाव है। यह मोक्ष का मार्ग और हान का उपाय है॥

सूत्र २७

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥

अर्थ

उस को सात प्रकार की प्रकृष्टसमाप्ति वाली प्रज्ञा होती है॥

भाष्य

तस्येति। प्रत्युदितख्यातेः प्रत्याम्नायः। सप्तधेति अशुद्ध्यावरणमलापगमाच्चित्तस्य प्रत्ययान्तरानुत्पादे सति सप्तप्रकारैव प्रज्ञा विवेकिनो भवति। तद् यथा परिज्ञातं हेयं, नास्य पुनः परिज्ञेयमस्ति। क्षीणा हेयहेतवो, न पुनरेतेषां क्षेतव्यमस्ति। साक्षात्कृतं निरोधसमाधिना हानं। भावितो विवेकख्यातिरूपो-हानोपाय इत्येषा चतुष्टयी कार्य्या विमुक्तिः प्रज्ञायाः। चित्त-विमुक्तिस्त्रयी। चरिताधिकारा बुद्धिर्गुणा गिरशिखरकूटच्युता इव ग्रावाणो निरवस्थानाः स्वकारणे प्रलयाभिमुखाः सह तेना-स्तं गच्छन्ति। न चैषां विप्रलीनानां पुनरस्त्युत्पादः प्रयोजना-भावादिति। एतस्यामवस्थायां गुणसम्बन्धातीतस्वरूपमात्रज्यो-तिरमलः केवलीपुरुष इत्येतां सप्तविधां प्रान्तभूमिप्रज्ञामनुपश्यन् पुरुषः कुशल इत्याख्यायते। प्रतिप्रसवेऽपि चित्तस्य मुक्तः कुशल इत्येव भवति, गुणातीतत्वादिति सिद्धा भवति विवेकख्याति-हानोपायः इति। न च सिद्धिरन्तरेण साधनमित्येतदारभ्यते॥

अर्थ

तस्य अर्थात् उस से ग्रहण प्रत्युदितख्याति (अर्थात् ख्याति जिस में उदय होगई है) से है। सप्तधा अर्थात् जब अशुद्धि और आवरण रूपी मल दूर होजाने से चित्त में अन्य प्रत्यय उत्पन्न नहीं होते तो विवेकी की प्रज्ञा सात तरह ही की प्रज्ञा होती है। और वह इस तरह से—(१) हेय अच्छी तरह से जानलिया अब इस के बारे में कुछ जानना नहीं है (२) हेय के कारण चीण होगये अब इन का चीण करना नहीं रहा (३) निरोध समाधि से हान का साक्षात्कार करलिया (४) विवेकख्याति रूप हान का उपाय निष्पादन करलिया—यह चार प्रकार की प्रज्ञा की विमुक्ति कर्तव्य अर्थात् प्रयत्न साध्य है। चित्त की विमुक्ति तीन प्रकार की है (१) बुद्धि कि जिस का अधिकार चरित होगया अर्थात् बुद्धिकृत जो भोग और अपवर्ग हैं वह करलिये गये। (२) जैसे पहाड़ी के शिखर कूट से गिरे हुए पत्थर बिना सहारा नीचे आते हैं वैसे ही गुण बेसहारे प्रलय के अभिमुख होकर अपने कारण में कारण के साथ अस्त को प्राप्त होते हैं। और बिना प्रयोजन इन लीन हुए गुणों का फिर उत्पाद नहीं होता। (३) इस अवस्था में गुणों के सम्बन्ध से परे स्वरूपमात्रज्योति मल रहित केवली अर्थात् गुणों के संग से रहित पुरुष होता है। ये सात तरह की प्रकृष्टसमाप्ति वाली प्रज्ञा को देखता हुआ पुरुष कुशल कहलाता है। और चित्त के प्रतिप्रसव अर्थात् अपने कारण में लीन होजाने से पुरुष मुक्त कुशल ही होजाता है क्योंकि वह गुणों से परे है। तब विवेकख्याति अर्थात् हान का उपाय सिद्ध होता है। अब यह आरम्भ किया जाता है कि सिद्ध बग़ैर साधन के नहीं होती॥

सूत्र २८

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा-विवेकख्यातेः॥

अर्थ

योग के अङ्गों के अनुष्ठान (अर्थात् उन के मुताबिक़ चलने) से अशुद्धि का क्षय होता है फिर उस से ज्ञान का प्रकाश होता है और वह प्रकाश विवेकख्याति तक है॥

भाष्य

योगाङ्गान्यष्टावभिधायिष्यमाणानि। तेषामनुष्ठानात् पँच-पर्वणो विपर्य्ययस्याशुद्धिरूपस्य क्षयो नाशस्तत्क्षये सम्यक् ज्ञान-

स्याभिव्यक्तिर्यथा यथा च साधनान्यनुष्ठीयन्ते तथा तथा तनुत्व-मशुद्धिरापद्यते, यथा यथा च क्षीयते तथा तथा च क्षयक्रमानु-रोधिनी ज्ञानस्यापि दीप्तिर्विवर्द्धते । सा खल्वेषा विवृद्धिः प्रकर्ष-मनुभवति । आविवेकख्यातेर्गुणपुरुषस्वरूपविज्ञानादित्यर्थः । योगाङ्गानुष्ठानमशुद्धेर्वियोगकारणं । यथा परशुः छेद्यस्य । विवे-कख्यातेस्तु प्राप्तिकारणं । यथा धर्मः सुखस्य । नान्यथा कारणं । कतिचैतानि कारणानि शास्त्रे भवन्ति । नवैवेत्याह तद्यथा उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः वियोगान्यत्वधृतयः का-रणं नवधा स्मृतमिति-तत्रोत्पत्तिकारणं मनो भवति ज्ञानस्य । स्थितिकारणं मनसः पुरुषार्थता शरीरस्येवाहार इति । अभि-व्यक्तिकारणं यथा रूपस्यालोकस्तथा रूपज्ञानं । विकारकारणं मनसो विषयान्तरम् यथाग्निः पाकस्य । प्रत्ययकारणं धूमज्ञान-मग्निज्ञानस्य । प्राप्तिकारणं योगाङ्गानुष्ठानं विवेकख्यातेः । वि-योगकारणं तदेवाशुद्धेः । अन्यत्वकारणं यथा सुवर्णस्य सुव-र्णकारः । एवमेकस्य स्त्रीप्रत्ययस्याविद्यामूढत्वे द्वेषोदुःखत्वे रागः सुखत्वे तत्वज्ञानं माध्यस्थे । धृतिकारणं शरीरमिन्द्रियाणां । तानि च तस्य महाभूतानि शरीराणां, तानि च परस्परं सर्वे-षाम् । तैर्य्यग्यौनमानुषदैवतानि च यथासम्भवं पदार्थान्तरेष्व-पियोज्यानि । योगाङ्गानुष्ठानन्तुद्विधैव कारणत्वं लभते इति योगाङ्गान्यवधार्य्यन्ते ॥

अर्थ

योग के अङ्ग आठ हैं और इन का ज़िकर अगाड़ी है । उन के अनुष्ठान से अशुद्धिरूप पंचपर्व वाले विपर्य्यय का क्षय अर्थात् नाश होता है । उस के क्षय होने पर सम्यक ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है । जैसे जैसे साधनों का अनुष्ठान होता है तैसे तैसे अशुद्धि तनु (कम) होती है । और जैसे जैसे अशुद्धि तनु होती है वैसे वैसे क्षय क्रम को अनुरोध करने वाली ज्ञान की दीप्ति बढ़ती है । इस वृद्धि की अवधि है और वह अवधि विवेकख्याति अर्थात् गुण और पुरुष के

स्वरूप के विज्ञान तक है। योग के अङ्गों का अनुष्ठान अशुद्धि का वियोग कारण है जैसे फरसा काटने योग्य वस्तु का। और विवेकख्याति का प्राप्ति कारण है जैसे सुख का धर्म। अन्य प्रकार का कारण नहीं। शास्त्र में कितने कारण होते हैं। नौ होते हैं अर्थात् (१) उत्पत्ति (२) स्थिति (३) अभिव्यक्ति (४) विकार (५) प्रत्यय (६) प्राप्ति (७) वियोग (८) अन्यत्व और (९) धृति। इन में से उत्पत्ति कारण जैसे ज्ञान का मन होता है। स्थिति कारण जैसे मन की पुरुषार्थता शरीर शरीर का आहार। अभिव्यक्ति कारण यथा जैसा रूप का प्रकाश वैसा रूप का ज्ञान। विकार कारण जैसे मन का कोई विषय और अग्नि पाक की। प्रत्यय कारण जैसे धूमज्ञान अग्निज्ञान का। प्राप्ति कारण जैसे विवेकख्याति का योग के अङ्गों का अनुष्ठान। वियोग कारण जैसे अशुद्धि का योग के अङ्गों का अनुष्ठान। अन्यत्व कारण जैसे सुवर्ण का सुवर्णकार। ऐसे ही एक स्त्री प्रत्यय का मूढ़ता हो तो अविद्या उस से दुःख हो तो द्वेष उस से सुख हो तो राग और माध्यस्थता हो तो असली ज्ञान होता है। धृतिकारण जैसे शरीर इन्द्रियों का और इन्द्रिय शरीर का, महाभूत शरीरों के और परस्पर सब के। क्योंकि तिर्य्यंक मानुष और दैवत शरीर एक दूसरे के लिये हैं। इस प्रकार नौ कारण हैं। वे जहां तक होसके अन्य पदार्थों में लगाना चाहिये। योगाङ्ग के अनुष्ठान को तो दो ही प्रकार से कारणत्व प्राप्त है। अब योगाङ्ग का निश्चय किया जाता है॥

सूत्र २९

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणा-ध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि॥

अर्थ

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि आठ अङ्ग योग के हैं॥

भाष्य

यथाक्रमं एतेषाम् अनुष्ठानं स्वरूपञ्च वक्ष्यामः। तत्र॥

अर्थ

इन का क्रमपूर्वक अनुष्ठान और स्वरूप कहते हैं। इन में से॥

सूत्र ३०

तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्य्यापरिग्रहा यमाः ॥

अर्थ

इन आठों अङ्गों में से यम, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह को कहते हैं ॥

भाष्य

तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः। उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतया तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते तदवदातरूपकरणायैवोपदीयन्ते। तथा चोक्तं। स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते, तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति। सत्यं यथार्थे वाङ् मनसे, यथादृष्टं, यथानुमितं, यथाश्रुतं, तथा वाङ्मनश्चेति। परत्र स्वबोधसंक्रान्तये वागुक्ता सा यदि न बञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिबन्ध्या वा भवेत् इत्येषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय। यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत् पापमेव भवेत्। तेनपुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेन कष्टं तमः प्राप्नुयात्। तस्मात् परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्। स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणं। तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति। ब्रह्मचर्य्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः। विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसंगहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रह इत्येते यमाः॥ ते तु—

अर्थ

पांचो यमो में से अहिंसा सब तरह से सब काल में सब प्राणियों के साथ द्रोह का न रखना है। बाकी के भी यम नियम उस के साधन हैं और उस की

सिद्धि में तत्पर होने की वजह से उस के प्रतिपादन के लिये प्रतिपादन किये जाते हैं और उस के स्वच्छ करने के लिये ग्रहण किये जाते हैं। तैसा ही कहा भी है। यह ब्राह्मण जैसे जैसे बहुत से व्रत करता है तैसे तैसे प्रमाद के करने वाले हिंसा के कारणों से निवृत्त होकर उस ही अहिंसा को स्वच्छ करता है। जब वाणी और मन अर्थ मर्य्यादा को न छोड़ें तब जो कहा या विचारा जाय सो सत्य है। अर्थात् जैसा प्रत्यक्ष किया जैसा अनुमान से निश्चय किया जैसा सुना (आगम) तैसा ही वाणी और मन में होवे। दूसरे को अपने समझे हुए को समझाने के लिये जो कहा जाय वह यदि वंचित न हो अर्थात् उस में से कुछ न्यून करके न कहा जाय भ्रम करने वाली न हो वा ज्ञान को अजनक (न पैदा करने वाली) न हो यह वाणी सब प्राणियों के हित के अर्थ प्रवृत्त हुई हो और उन के उपघात के लिये नहीं वह सत्य होती है। और जो इस प्रकार कही हुई वाणी प्राणियों के घात में ही तत्पर हो तो सत्य नहीं होती बल्कि पाप-युक्त होती है। उस पुण्याभास से कि जो पुण्य के प्रतिरूपक (प्रतिकूल) है पीड़ा के साथ तम (अन्धकार) को प्राप्त होता है। तिस से सब प्राणियों के हित को विचार कर सत्य बोले। दूसरे से शास्त्र विरुद्ध द्रव्य का ग्रहण करना स्तेय है। उस का उलटा अस्तेय है। पुनः लेने की इच्छा से रहित होना भी अस्तेय है। उपस्थ इन्द्रिय का कि जिस में अन्य इन्द्रिय भी रक्षित रहैं संयम ब्रह्मचर्य्य (अर्थात् लंगोटबन्दी) है। विषयों के सम्पादन रक्षण, क्षय, संग, और हिंसा दोषों के देखने से जो उन का स्वीकार न करना है वह अपरिग्रह है। इतने यम हैं॥ वे तो

सूत्र ३१

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्॥

अर्थ

जाति, देश, काल और समय से अवच्छिन्न और सब अवस्थाओं में किये गये महाव्रत हैं॥

भाष्य

तत्राहिंसाजात्यवच्छिन्ना, मत्स्यबधकस्य मत्स्येष्वेव नान्यत्र हिंसा। सैव देशावच्छिन्ना, न तीर्थे हनिष्यामीति। सैव काला-वच्छिन्ना, न चतुर्दश्यां, न पुण्ये ऽहनि, हनिष्यामीति। सैव

त्रिभिरुपरतस्य समयावच्छिन्ना, देवब्राह्मणार्थे नान्यथा हनिष्यामीति। यथा च क्षत्रियाणां युद्ध एव हिंसा नान्यत्रेति। एभिर्जातिदेशकालसमयैरनवच्छिन्ना अहिंसादयः सर्वथैव परिपालनीयाः। सर्वभूमिषु सर्वविषयेषु सर्वथैवाविदितव्यभिचाराः सार्वभौमा महाव्रतमित्युच्यन्ते ॥

अर्थ

अब अहिंसा को—वह जाति करके अवच्छिन्न यथा मछिली मारने वाले की मछिलियों में ही हिंसा है अन्यत्र नहीं। वह हो देश करके अविच्छिन्न होती है यथा तीर्थ में मैं न मारूंगा। वह ही काल करके अवच्छिन्न होती है यथा मैं चौदस वा पुण्य दिन को न मारूंगा। वह ही तीनों (अर्थात् जाति देश और काल) से उपरत पुरुष को समय करके अवच्छिन्न होती है यथा देवता और ब्राह्मण के लिये मैं हिंसा करूंगा और प्रकार से नहीं व क्षत्रियों को हिंसा युद्ध ही में होतो है अन्यत्र नहीं। ऐसे जाति देश काल और समय करके अवच्छिन्न (अर्थात् अटूट) अहिंसादि पांचों यम सब तरह ही से पालन करना चाहिये। सब भूमियों में सब विषयों में सब तरह ही से अव्यभिचार को प्राप्त अर्थात् सार्वभौमा अहिंसादि पांचो यम महाव्रत कहलाते हैं ॥

सूत्र ३२

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥

अर्थ

शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान नियम हैं ॥

भाष्य

तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यमाभ्यन्तरं चित्तमलानामाक्षालनं। संतोषः सन्निहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा। तपो द्वन्द्वसहनं, द्वन्द्वश्च जिघत्सापिपासे शीतोष्णे स्थानासने काष्ठमौनाकारमौने च व्रतानि चैषां यथायोगं कृच्छ्रचान्द्रायणसान्तपनादीनि। स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणा-

मध्ययनं प्रणवजपो वा। ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणं। "शय्यासनस्थोथपथिव्रजन्वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः। संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्यमुक्तोऽमृतभोगभागी" यत्रेदमुक्तं ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोप्यन्तरायाभावश्चेति॥ एतेषां यमनियमानाम्॥

अर्थ

पांचो नियमों में से शौच (अर्थात् सफ़ाई) मिट्टी, जल आदि से होती है और मेध्य (अर्थात् शास्त्र विहित उत्तम वस्तु) से संस्कार करना भी है। यह शुद्धि बाहर की है परन्तु भीतर की शुद्धि चित्त के मलों का दूर करना है। समीपवर्ती साधनों से अधिक के पैदा करने की इच्छा न करना सन्तोष है। तप द्वन्द्व का सहना है और द्वन्द्व, भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, स्थिति और उस का साधन, काष्ठमौन और आकारमौन हैं। इन का यथा योग व्रत जैसे कृच्छ्र चान्द्रायण, सान्तपन, आदि भी तप में शामिल है। स्वाध्याय मोक्ष शास्त्रों का पढ़ना वा ओंकार का जप है। ईश्वर प्रणिधान उस परम गुरू में सब कर्मों का अर्पण करदेना है। शय्यासन पर बैठा हो वा मार्ग में जाता हो, वितर्कजाल अर्थात् अज्ञान के संकल्प जिस के क्षीण होगये हों, ऐसा स्वस्थ और अमृतभोग का भागी संसार बीज को देखता हुआ नित्यमुक्त होवै। यहां पर यह कहा जा सक्ता है कि उस से फिर पुरुष की प्राप्ति और अन्तरायों का अभाव होता है। इन यम नियमों के॥

सूत्र ३३

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनं॥

अर्थ

वितर्क (अर्थात् विपरीत विचार) से बाधित होने पर प्रतिपक्ष की भावना करै॥

भाष्य

यदास्य ब्राह्मणस्य हिंसादयो वितर्का जायेरन्, हनिष्याम्यहमपकारिणमनृतमपि वक्ष्यामि, द्रव्यमप्यस्य स्वीकरिष्यामि दारेषु चास्य व्यवायी भविष्यामि, परिग्रहेषु चास्य स्वामी भविष्यामीति। एवमुन्मार्गप्रवणवितर्कज्वरेणातिदीप्तेन बाध्य-

मानसस्तत्प्रतिपक्षान् भावयेत् । घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया शरणमुपागतः सर्वभूताभयप्रदानेन योगधर्मः। स खल्वहं त्यक्त्वा वितर्कान् पुनस्तानाददानस्तुल्यः श्ववृत्तेनेति भावयेत् । यथा श्ववान्तावलेहि तथा त्यक्तस्य पुनराददान इति । एव मादि सूत्रान्तरेष्वपि योज्यम् ॥

अर्थ

जब इस ब्राह्मण को हिंसादि वितर्क उत्पन्न होवे अर्थात् मैं अपकारी को मारूंगा, झूठ भी बोलूंगा, इस का द्रव्य भी लेलूंगा, इस की स्त्रियों का भी संगी हूंगा, इस की मिलकियत का स्वामी भी हूंगा, इस प्रकार उन्मार्ग में प्रवाह वाले प्रचण्ड वितर्क ज्वर से बाध्य मान ब्राह्मण उस वितर्क के प्रतिपक्षों की भावना करे । संसाररूपी घोर अंगारों में मैं पका और यह समझ कर कि योगधर्म सब प्राणियों को अभय का देने वाला है मैंने उस की शरण ली। सो मैं अब उस को छोड़ कर वितर्कों को फिर ग्रहण करूं तो मेरा आचरण कुत्ते के आचरण के समान है यह भावना करे। जैसे कुत्ता वमन का चाटने वाला है तैसे ही छोड़े हुए का फिर ग्रहण है। ऐसे ही बाकी के यम नियमों में भी लगाना चाहिये ॥

सूत्र ३४

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनं॥

अर्थ

वितर्क हिंसा को आदि लेकर हैं। वे किये हुए कराये हुए और अनुमोदन किये हुए होते हैं। और लोभ, क्रोध और मोह से उत्पन्न होते हैं व मृदु मध्य और अधिमात्र हैं और इन का फल दुःख और अज्ञान है जो कभी समाप्त नहीं होते। इस प्रकार प्रतिपक्ष को भावना करे ॥

भाष्य

तत्र हिंसा तावत् कृतकारितानुमोदितेति त्रिधा, एकैका-पुनस्त्रिधा लोभेन मांसचर्मार्थेन, क्रोधेनापकृतमनेनेति, मोहेन

धर्मो मे भविष्यति इति। लोभ क्रोध मोहाः पुनस्त्रिविधाः। मृदु-मध्याधिमात्रा इत्येवं सप्तविंशति भेदा भवन्ति हिंसायाः। मृदुमध्याधिमात्राः पुनस्त्रेधा, मृदुमध्यतीव्राः तद्यथा मृदुमृदुर्मध्य-मृदुस्तीव्रमृदुरिति। तथा मृदुमध्यः मध्यमध्यस्तीव्रमध्य इति, तथा मृद्वधिमात्रः मध्याधिमात्रः तीव्राधिमात्रः इति। एवमेकाशीतिभेदा हिंसा भवति। सा पुनर्नियमविकल्पसमुच्चयभेदादसङ्ख्येया प्राणभृद्भेदस्यापरिसङ्ख्येयत्वादिति। एवमनृतादिष्वपियोज्यं। ते खल्वमी वितर्का दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्ष भावनं। दुःखमज्ञानं चानन्तफलं येषामिति प्रतिपक्ष भावनं। तथा च हिंसकः प्रथमं तावत् बध्यस्य वीर्य्यमाक्षिपति। ततः शस्त्रादिनिपातेन दुःखयति। ततो जीवितादपि मोचयतीति। ततो वीर्य्याक्षेपादस्य चेतनाचेतनमुपकरणं क्षीणवीर्य्यं भवति। दुःखोत्पादान्नरकतिर्य्यक्प्रेतादिषु दुःखमनुभवति। जीवितव्यपरोपणात् प्रतिक्षणँच जीवितात्यये वर्तमानो मरणमिच्छन्नपि दुःखविपाकस्य नियतविपाकवेदनीयत्वात् कथञ्चिदेवोच्छ्वसीति। यदि च कथञ्चित्पुण्यावापगता हिंसा भवेत् तत्र सुखप्राप्तौ भवेदल्पायुरिति। एवमनृतादिष्वपि योज्यं यथा सम्भवं। एवं वितर्काणाञ्चामुमेवानुगतं। विपाकमनिष्टं भावयन्नवितर्केषु मनः प्रणदधीत। प्रतिपक्षभावनात् हेतोर्हेया वितर्का यदास्युरप्रसवधर्माणस्तदा तत् कृतमैश्वर्यं योगिनः सिद्धिसूचकं भवति। तद् यथा—

अर्थ

पहिले हिंसा लो। वह की हुई, कराई हुई और अनुमोदन की हुई होने से तीन प्रकार की है। फिर एक २ प्रकार की तीन तीन तरह की है। लोभ से की हुई यथा मांस और चर्म के लालच से। क्रोध से की हुई यथा इसने अपकार किया है। मोह से की हुई यथा मुझ को धर्म होगा। अब फिर लोभ,

क्रोध, मोह तीन २ प्रकार के हैं अर्थात् मृदु, मध्य और अधिमात्र। इस तरह से २७ भेद हिंसा के होते हैं। फिर मृदु, मध्य और अधिमात्र तीन २ प्रकार के हैं अर्थात् मृदु, मध्य और तीव्र यथा मृदु मृदु, मध्य मृदु और तीव्र मृदु तैसे ही मृदु मध्य, मध्यमध्य, और तीव्र मध्य, और मृदु अधिमात्र, मध्य अधिमात्र और तीव्र अधिमात्र इस तरह से ८१ भेद हिंसा के होते हैं। फिर वह नियम (अर्थात् एक के स्थान में एक) समुच्चय (अर्थात् एक के स्थान में कुल) और विकल्प (अर्थात् एक के स्थान में अन्य) भेद से और प्राणियों के असंख्य भेद से भी असंख्य होती है। ऐसे ही झूंठ आदि में भी लगालो। ये वितर्का दुःख और अज्ञान् रूपी अनन्त फल के देने वाले हैं। यह प्रतिपक्ष की भावना है। अर्थात् दुःख और अज्ञान हैं अनन्त फल जिन के ऐसा विचारना प्रतिपक्ष की भावना है। हिंसक पहिले बध्य के वीर्य्य को नष्ट करता है फिर हथ्यार चलाने से उस को दुःख देता है फिर मार भी डालता है। अब वीर्य्य नष्ट करने से उस को चेतन और अचेतन सामिग्री क्षीणवीर्य्या होती है। दुःख देने से नरक तिर्य्यक् प्रेतादि योनि में प्राप्त होकर दुःख भोगता है। और जान लेलैने से उस का जीवन क्षीण होता है और ज़िन्दगी में भी मरने को चाहता हुआ भी दुःख विपाक के नियत विपाकवेदनीय (मुकर्रर हुए विपाक के अनुभवनीय) होने की वजह से क्षण क्षण ऊपर को स्वास लेता है। और अगर किसी तरह से हिंसा पुण्य के उदय से अपगत अर्थात् कट जावे तो सुख प्राप्त होने पर भी थोड़ी उमर होवे। इसी तरह पर झूंठ आदि में भी जहां तक सम्भव हो लगाना चाहिये। इस प्रकार वितर्कों का यह बुरा होने वाला नतीजा विचार कर वितर्कों में मन को न लगावे। प्रतिपक्ष भावना की वजह से वितर्क दूर होजाते हैं और जब वे अप्रसव (जिन की उत्पत्ति न होवे) धर्म वाले होजावें तो यम और नियम से उत्पन्न ऐश्वर्य्य योगी की सिद्धि को सूचन करने वाला होता है। और वह इस प्रकार है :—

सूत्र ३५

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥

अर्थ

अहिंसा में प्रतिष्ठित (अर्थात् तत्पर) होने पर उसके समीप में दुश्मनी दूर होजाती है ॥

भाष्य

सर्वप्राणिनां भवति ॥

अर्थ

सब प्राणियों को होती है ॥

सूत्र ३६

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥

अर्थ

सत्य में प्रतिष्ठित होजावै तौ क्रिया के फल का आश्रयत्व उस में होता है अर्थात् जो वह कहता है सो होजाता है ॥

भाष्य

धार्मिको भूया इति भवति धार्मिकः। स्वर्गं प्राप्नुहीति स्वर्गं प्राप्नोति, अमोघास्य वाग् भवति ॥

अर्थ

धर्मात्मा होजा और धार्मिक हो जाता है। स्वर्ग तुझ को मिले और स्वर्ग मिलजाता है। इस योगी की वाणी अमोघ होजाती है अर्थात् निष्फल नहीं जाती ॥

सूत्र ३७

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥

अर्थ

अस्तेय (अर्थात् चोरी त्याग) में तत्पर होने से सब रत्न मौजूद होते हैं ॥

भाष्य

सर्वदिक्स्थान्यस्योपतिष्ठन्ते रत्नानि ॥

अर्थ

सब दिशाओं में मौजूद रत्न उस के पास उपस्थित होते हैं ॥

सूत्र ३८

ब्रह्मचर्य्यप्रतिष्ठायां वीर्य्यलाभः ॥

अर्थ

ब्रह्मचर्य्य में निपुण होजावै तौ वीर्य्य का लाभ होता है ॥

भाष्य

यस्य लाभादप्रतिघान् गुणानुत्कर्षयति, सिद्धश्च, विनेयेषु ज्ञानमाधातुं समर्थो भवति इति ॥

अर्थ

जिस के लाभ से योगी अपने अप्रतिहत (अर्थात् जिन का नाश न हो) गुणों को उत्कर्षित करता है और खुद सिद्ध अर्थात् कृतकृत्य वा कृतार्थ हो जाता है और फिर शिष्यों को ज्ञान देने को समर्थ होता है ॥

सूत्र ३९

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ॥

अर्थ

अपरिग्रह में स्थिरता होजावे तो जन्म किस तरह हुआ इस का सम्यक् बोध होता है ॥

भाष्य

अस्य भवति, कोऽहमासं, कथमहमासं, किंस्विदिदं, कथंस्विदिदं, के वा भविष्यामः, कथं वा भविष्याम इत्येवमस्य पूर्वान्तपरान्तमध्येषु आत्मभावजिज्ञासा स्वरूपेणोपावर्तते, एता यमस्थैर्ये सिद्धयः । नियमेषु वक्ष्यामः ॥

अर्थ

इस योगी को ऐसा विचार उत्पन्न होता है कि मैं कौन हूं। कैसे हुआ। यह जगत क्या है और कैसे हुआ, कौन होंगे, किस तरह होंगे इति। इस प्रकार इस योगी को पूर्वान्त और परान्त के मध्य में आत्मभाव जानने की इच्छा स्वरूप से ही होती है। ये यम की स्थिरता से सिद्धियां होती हैं। नियमों की सिद्धियां कहते हैं ॥

सूत्र ४०

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥

अर्थ

शौच से अपने अङ्ग से घृणा और पर से असंसर्ग होता है ॥

भाष्य

स्वाङ्गे जुगुप्सायां शौचमारभमाणः कायावद्यदर्शी कायानभिष्वङ्गी यतिर्भवति, किंच परैरसंसर्गः कायस्वभावावलोकी स्वमपि कायं जिहासुर्मृज्जलादिभिराक्षालयन्नपि कायशुद्धिमपश्यन् कथं परकायैरत्यन्तमेवाप्रयतैः संसृज्येत ॥ किंच

अर्थ

जब अपने अङ्ग से घृणा होजाती है तो शौच का आरम्भ करता हुआ और शरीर को दूषित देखता हुआ उस से अनासक्त होकर यति (अर्थात् मन के निग्रह करने में समर्थ) होजाता है। और भी यह है कि दूसरों के साथ उस का संसर्ग नहीं होता क्योंकि शरीर के स्वभाव को देख कर खुद अपनी काया के छोड़ने को जो उत्सुक है सो जलादि से न्हाने धोने पर भी शरीर की शुद्धि को न देख कर कैसे दूसरों के शरीर से कि जो शुद्ध नहीं हैं संसर्जित होगा॥ और भी :—

सूत्र ४१

सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्रेन्द्रियजयात्मदर्शन-योग्यत्वानि च॥

अर्थ

सत्व (अर्थात् बुद्धि सत्व) की शुद्धि होती है और उस से सौमनस्य अर्थात् चित्त की प्रसन्नता होती है। प्रसन्नता से एकाग्रता और उस से इन्द्रियों का जय। इन्द्रियजय से आत्मदर्शन की योग्यता होती है॥

भाष्य

भवन्तीति वाक्यशेषः। शुचेः सत्वशुद्धिस्ततः सौमनस्यं तत एकाग्र्यं तत इन्द्रियजयस्ततश्चात्मदर्शनयोग्यत्वं बुद्धिसत्वस्य भवतीति। एतच्छौचस्थैर्य्यादधिगम्यत इति॥

अर्थ

होते हैं अखीर में लगाना चाहिये। शुचि से सत्व की शुद्धि होती है। उस से चित्त की प्रसन्नता। फिर उस से एकाग्रता फिर उस से इन्द्रियजय। इन्द्रियजय से आत्मदर्शन की योग्यता बुद्धिसत्व को होती है। यह शौच को स्थिर करने से प्राप्त होता है॥

सूत्र ४२

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः॥

अर्थ

सन्तोष से अनुत्तम सुख का लाभ होता है॥

भाष्य

तथाचोक्तं—यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखं।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोड़शीं कलामिति ॥

अर्थ

तैसा ही कहा भी है—लोक में जो काम सुख है और जो दिव्य बड़ा सुख है वे दोनों तृष्णाक्षय से जन्य सुख की सोलहवीं कला के भी बराबर नहीं हैं ॥

सूत्र ४३

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥

अर्थ

तप से अशुद्धि का क्षय होता है और फिर काय और इन्द्रिय सिद्धि होती हैं ॥

भाष्य

निर्वर्तमानमेव तपो हिनस्त्यशुद्ध्यावरणमलं। तदा वरण-मलापगमात् कायसिद्धिरणिमाद्या। तथेन्द्रियसिद्धि दूराच्छ्रव-णद्दर्शनाद्येति ॥

अर्थ

निष्पाद्यमान जो तप है सो अशुद्धियावरणरूपी मल को दूर करता है और उस आवरणरूपी मल के दूर होनें से कायसिद्धि अणिमा (अर्थात् छोटे से छोटा होजाना) को आदि लेकर होती है। तैसे ही इन्द्रिय सिद्धि भी होती है जिस से दूर से देखलेना सुनलेना आदि होता है ॥

सूत्र ४४

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥

अर्थ

स्वाध्याय से इष्ट (अर्थात् जिन की इच्छा की जाय) देवताओं के साथ सम्बाद वा उन की प्राप्ति होवे ॥

भाष्य

देवा ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छन्ति कार्ये चास्य वर्तन्ते इति ॥

अर्थ

देवता ऋषि और सिद्ध पुरुष स्वाध्याय स्वभाव वाले के दर्शन में आते हैं और उस के कार्य्य में भी मौजूद होते हैं ॥

सूत्र ४५

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥

अर्थ

ईश्वर की विशेष भक्ति से समाधि की सिद्धि होती है

भाष्य

ईश्वरार्पितसर्वभावस्य समाधिसिद्धिर्यया सर्वमीप्सितमवितथं जानाति। देशान्तरे देहान्तरे कालान्तरे च ततोऽस्य प्रज्ञा यथाभूतं प्रजानातीति। उक्ताः सहसिद्धिभिर्यमनियमाः। आसनादीनि वक्ष्यामः॥ तत्र—

अर्थ

जिसने ईश्वर को सब अपने भाव अर्पित कर दिये हैं उस को समाधि की सिद्धि होती है और फिर उस से जिस बात की इच्छा करे वह सब यथार्थ जानलेता है। अर्थात् समाधिसिद्धि से उस की प्रज्ञा (अर्थात् बुद्धि) देशान्तर में देहान्तर में और कालान्तर में जो जैसा है उस को वैसा ही जानलेती है। सिद्धियों सहित यम और नियम कहे अब आसनादि को कहते हैं तिन में ॥

सूत्र ४६

स्थिरसुखमासनम् ॥

अर्थ

निश्चल सुख का देने वाला संस्थान आसन है। जिस प्रकार से बैठे उसे आसन कहते हैं ॥

भाष्य

तद्यथा पद्मासनं, वीरासनं, भद्रासनं, स्वस्तिकं, दण्डासनं, सोपाश्रयं, पर्य्यङ्कं, क्रौञ्चनिषदनं, हस्तिनिषदनं, उष्ट्रनिषदनं, समसंस्थानं स्थिरसुखं यथासुखं चेत्येवमादीति ॥

अर्थ

भल्लम् पद्मासन (यह आसन सब आसनों में प्रसिद्ध है और इस तरह पर बांधा जाता है कि दाहीं टांग को मोड़ कर बांईं जांघ पर रक्खे और बांईं टांग को मोड़ कर दाहीं जांघ पर रक्खे फिर बांएं हाथ से बांईं टांग के अंगूठे को पकड़े और दाहें हाथ से दांईं टांग के अंगूठे को) वीरासन (इस की यह रीति है कि एक टांग को मोड़ कर ज़मीन में रक्खे और दूसरी को मोड़ कर मुड़ी हुई पर जमावे फिर दांएं हाथ को बांएं हाथ की कोन्हीं से मिलावे और बांएं हाथ को दांएं हाथ की कोन्हीं से) भद्रासन (दोनों पांउ के तलों को अण्डकोश के पास मिलावे और फिर उन के ऊपर हाथों को चित्त जमावे) स्वस्तिक (दाएं पांउ को मोड़ कर बांईं टांग के बीच में घुटने के पास लगावे और बांएं पांउ को दांईं टांग के बीच में घुटने के पास जमावे फिर दहने हाथ को दाहिने घुटने पर और बांएं हाथ को बांएं घुटने पर) दण्डासन (बैठ कर टांगें और हाथ पसारने से होता है) सोपाश्रय (योगपट्टक के योग से होता है) पर्य्यंक (यह दण्डासन कैसा है परन्तु इस में हाथ पसार कर घुटने के पास ज़मीन पर रखने होते हैं) क्रौंचनिषदन (जैसे क्रौंच बैठते हैं) हस्तिनिषदन (जैसे हाथी बैठता है) उष्ट्रनिषदन (जैसे ऊंट बैठता है) समसंस्थान (हाथ और पैरों के अंगभाग से दो दो को मोड़ कर हर एक दूसरे का संपीडन जिस में होइ) स्थिरसुख (जिस बैठक से स्थिर सुख होइ) यथासुख (जिस से यथावत् सुख होइ)। इसी तरह से और भी ॥

सूत्र ४७

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥

अर्थ

देह धारण के निमित्त जो प्रयत्न किये जाते हैं उन की शिथिलता और अनन्त अर्थात् जिस का नाश वा अन्त न हो अर्थात् शेष भगवान में चित्त की समापत्ति से आसन सिद्ध होता है ॥

भाष्य

भवतीति वाक्यशेषः। प्रयत्नोपरमात् सिद्ध्यत्यासनं। येन नाङ्गमेजयो भवति। अनन्ते वा समापन्नं चित्तमासनं निर्वर्त्तय-तीति ॥

अर्थ

होता है यह वाक्य शेष है। प्रयत्न के उपराम से आसन सिद्ध होता है जिस से फिर अङ्ग का कांपना नहीं होता। और अनन्त अर्थात् शेष भगवान में चित्त के समापन्न होने से आसन सिद्ध होता है॥

सूत्र ४८

ततो द्वन्द्वानभिघातः॥

अर्थ

तिस से फिर द्वन्द्व नहीं सताते॥

भाष्य

शीतोष्णादिभिर्द्वन्द्वैरासनजयान्नाभिभूयते॥

अर्थ

आसनजय से शीतोष्णादि द्वन्द्व बाधा नहीं करते॥

सूत्र ४९

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः॥

अर्थ

आसनजय होने पर जो श्वास और प्रश्वास की गति का रोकना है वह प्राणायाम है॥

भाष्य

सत्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः। कौष्ठस्य वायोर्निःसारणं प्रश्वासः। तयोर्गतिविच्छेद उभयाभावः प्राणायामः॥ स तु

अर्थ

आसनजय होने पर जो बाहर की पवन का आचमन करना है उसे श्वास कहते हैं और जो भीतर की पवन का निकालना है वह प्रश्वास है। इन की चाल का रोकना अर्थात् दोनों का अभाव प्राणायाम है॥ और वह तो

सूत्र ५०

वाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टोदीर्घसूक्ष्मः ॥

अर्थ

बाह्य, आभ्यन्तर और स्तम्भवृत्ति तीन प्रकार का प्राणायाम देश काल और संख्या करके परीच्छित दीर्घ और सूक्ष्म होता है ॥

भाष्य

यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स बाह्यः। यत्र श्वासपूर्वको गत्यभावः स आभ्यन्तरः। तृतीयस्तम्भवृत्तिर्यत्रोभयाभावः सकृत्-प्रयत्नाद् भवति। यथा तप्ते न्यस्तमुपले जलं सर्वतः सङ्कोचमापद्यते। तथा द्वयोर्युगपद् गत्यभाव इति। त्रयोप्येते देशेन परिदृष्टाः, इयानस्य विषयो देश इति। कालेन परिदृष्टाः, क्षणानामियत्तावधारणेनावच्छिन्ना इत्यर्थः। सँख्याभिः परिदृष्टाः एतावद्भिः श्वासप्रश्वासैः प्रथम उद्घातस्तद्वन्निगृहीतस्यैतावद्भिः द्वितीय उद्घातः। एवं तृतीयः, एवं मृदुरेवं मध्य, एवं तीव्रं इति संख्यापरिदृष्टाः। स खल्वयमेवमभ्यस्तो दीर्घ सूक्ष्मः॥

अर्थ

जिस प्राणायाम में प्रश्वास को पहिले निकाल कर सांस का रोकना होता है वह वाह्य वा रेचक प्राणायाम कहलाता है। और जिस में श्वास लेकर गति का अभाव होता है वह आभ्यन्तर अथवा पूरक प्राणायाम कहलाता है। तीसरा प्राणायाम स्तम्भवृत्ति अर्थात् कुम्भक है। इस में श्वास और प्रश्वास दोनों की गति का अभाव एकदम होजाता है जैसे गरम पत्थर पर पानी डालने से पानी चारो तरफ़ से सङ्कोच को प्राप्त होता है वैसे ही दोनों (अर्थात् श्वास और प्रश्वास) की गति का अभाव एकदम होजाता है। ये तीनों प्राणायाम देश करके परीच्छित होते हैं। यथा इस का इतना विषय है यह ही देश कहलाता है। पुनः तीनों प्राणायाम काल करके परिदृष्ट होते हैं। यथा क्षणों के इतने अवधारण से अवच्छिन्न है अर्थात् इतने क्षणों तक रहता है।

पुनः तीनों प्राणायाम संख्या करके परिदृष्ट होते हैं यथा पहिला उद्घात (अर्थात् निरुद्ध वायु का मस्तक में धक्का वा आघात) इतने श्वास और प्रश्वासों का है। तैसे ही निगृहीत उद्घात का इतनो श्वास प्रश्वासों से दूसरा उद्घात। ऐसे ही तीसरा। इस प्रकार मृदु मध्य और तीव्र। यह संख्या करके परिदृष्ट हुआ। वह इस प्रकार अभ्यास किया हुआ दीर्घ और सूक्ष्म होता है॥

सूत्र ५१

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥

अर्थ

बाह्य और आभ्यन्तर विषय को आक्षेप करने वाला चौथा प्राणायाम है॥

भाष्य

देशकालसंख्याभिर्बाह्यविषयः परिदृष्ट आक्षिप्तः। तथाभ्यन्तरविषयः परिदृष्ट आक्षिप्तः। उभयथा दीर्घसूक्ष्मः। तत्पूर्वको भूमिजयात् क्रमेणोभयोर्गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामः। तृतीयस्तु-विषयानालोचितो गत्यभावः सकृदारब्ध एव देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। चतुर्थस्तु। श्वासप्रश्वासयोर्विषयावधारणात् क्रमेण भूमिजयादुभयाक्षेपपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामः इत्ययं विशेष इति॥

अर्थ

देशकाल और संख्या से बाहर का विषय कि जो परिदृष्ट होगया है दूर किया। तैसे ही भीतर का परीच्छित विषय दूर किया। फिर दोनों प्रकार से आक्षेप दीर्घ और सूक्ष्म होवे। ऐसा पहिले करके फिर ये भूमि (अर्थात् योग के इस अङ्ग को) को जीत कर क्रम से जो दोनों को गति का अभाव होता है वह चौथा प्राणायाम है। तीसरे प्राणायाम में तो विषयों को बिना आलोचन किये गति का अभाव होता है और वह एकदम आरम्भ किया जाता है व देश काल संख्या करके परीच्छित दीर्घ और सूक्ष्म होता है। और चौथा तो इस प्रकार किया जाता है कि पहिले तो श्वास और प्रश्वास के विषय का निश्चय किया जाता है फिर क्रम से भूमि (योग भूमि) जीत कर दोनों को दूर करके गति का अभाव होता है और यह ही इस चौथे प्राणायाम की विशेषता है॥

सूत्र ५२

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥

अर्थ

उस से (अर्थात् प्राणायाम के करने से) प्रकाश का आवरण क्षीण होजाता है॥

भाष्य

प्राणायामानभ्यस्यतोऽस्य योगिनः क्षीयते विवेकज्ञानावरणीयं कर्म । यत्तदाचक्षते । महामोहमयेन इन्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्वमावृत्य तदेवाकार्य्ये नियुक्ते इति तदस्य प्रकाशावरणं कर्म संसारनिबन्धनं प्राणायामाभ्यासात् दुर्बलं भवति, प्रतिक्षणं च क्षीयते । तथाचोक्तं—तपो न परं प्राणायामात् ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्येति ॥ किञ्च

अर्थ

जो योगी प्राणायाम का अभ्यास करता है तो उस का विवेकज्ञान को ढकने वाला कर्म क्षीण होजाता है। उस को अगाड़ी दिखाते हैं। महामोहमय इन्द्रजाल से प्रकाशस्वभाव वाला सत्व ढक जाता है और फिर अकार्य अर्थात् अधर्म में नियुक्त होता है। प्राणायाम के अभ्यास से उस का प्रकाश का आवरण करने वाला कर्म कि जो संसार का हेतु है दुर्बल होता है और फिर क्षण २ अर्थात् जैसा २ अभ्यास बढ़ता है क्षीण होता जाता है। तैसा ही कहा भी है कि प्राणायाम से परे कोई तप नहीं है और प्राणायाम से मलों की विशेष शुद्धि होती है और ज्ञान की दीप्ति अर्थात् प्रकाश होता है॥ और भी

सूत्र ५३

धारणासु च योग्यता मनसः ॥

अर्थ

धारणाओं में मन की योग्यता होती है॥

भाष्य

प्राणायामाभ्यासादेव । प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्येति वचनात् ॥ अथकः प्रत्याहारः ?

अर्थ

प्राणायाम के अभ्यास से ही। क्योंकि प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ऐसा शास्त्रकार का वचन है॥ अब प्रत्याहार किसे कहते हैं:—

सूत्र ५४

स्वविषयाऽसम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः॥

अर्थ

अपने विषय के साथ चित्त के सम्प्रयोग न होने पर चित्त स्वरूप के साथ इन्द्रियों की जो अनुकारता सी है वह प्रत्याहार कहलाता है॥

भाष्य

स्वविषयसम्प्रयोगाभावे चित्तस्वरूपानुकार इवेति। चित्त-निरोधे चित्तवन्निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवदुपायान्तर-मपेक्षन्ते। यथा मधुकरराजं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति, निविशमानमनुविशन्ते तथेन्द्रियाणि चित्तनिरोधे निरुद्धानी-त्येष प्रत्याहारः॥

अर्थ

अपने विषय के साथ सम्प्रयोग के अभाव से चित्त के स्वरूप की अनु-कारता सी होती है। चित्त के रुक जाने से उस की नाईं इन्द्रियां भी रुक जाती हैं और किसी इन्द्रिय को जिस तरह से जीतें उस तरह अन्य उपाय की अपेक्षा नहीं होती। देखो जैसे मधुकरराज (अर्थात् मधुमक्खियों का राजा) को उड़ता हुआ देख कर मधुमक्खी उड़ती हैं और बैठा देख कर बैठ जाती हैं वैसे ही चित्त के निरोध होनें पर इन्द्रियां भी निरुद्ध होजाती हैं। यह ही प्रत्याहार है॥

सूत्र ५५

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाँ॥

अर्थ

तिस (अर्थात् प्रत्याहार) से इन्द्रियों की परमा (अर्थात् सब से बढ़की) वश्यता (अर्थात् वश वा क़ाबू में होना) होती है॥

भाष्य

शब्दादिष्वव्यसनमिन्द्रियजय इति केचित। सक्तिर्व्यसनं व्यस्यत्येनं श्रेयस इति। अविरुद्धा प्रतिपत्तिर्न्याय्या। शब्दादि-संप्रयोगः स्वेच्छयेत्यन्ये। रागद्वेषाभावे सुखदुःखशून्यं शब्दादि-ज्ञानमिन्द्रियजय इति केचित। चित्तैकाग्र्यादप्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्यः। ततश्च परमा त्वियं वश्यता, यच्चित्तनिरोधे निरुद्धा-नीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवत् प्रयत्नकृतमुपायान्तरमपेक्षन्ते योगिन इति॥

अर्थ

कोई आचार्य यह कहते हैं कि शब्दादि में जो अव्यसन (अर्थात् शौक का न होना) है वह इन्द्रियों का जीतना है। शक्ति (अर्थात् विषयों में आशक्ति) व्यसन है। अर्थात् इस (पुरुष) को जो कल्याण से फेंकदेता वा दूर करदेता है वह व्यसन है। बाज़े कहते हैं कि शास्त्र के अविरुद्ध शब्दादिकों का ग्रहण उचित है। किसी आचार्यों का यह मत है कि अपनी इच्छा से अर्थात् विषयों के अवश होकर जो शब्दादि के साथ संप्रयोग है सो इन्द्रियजय है। और बाज़ों का यह ख़याल है कि राग और द्वेष के न होने पर सुखदुःखशून्य जो शब्दादि का ज्ञान है वह इन्द्रियजय है। जैगीषव्य ऋषि का यह मत है कि चित्त की एकाग्रता से जो अप्रतिपत्ति (अर्थात् ग्रहण का न होना) है वह ही इन्द्रियजय है। तिन अर्थात् पहिले कही हुई चार प्रकार की) में से परमा तो यह वश्यता है कि जो चित्त के रुक जाने पर इन्द्रिय भी रुक जाती हैं और अन्य इन्द्रिय के जीतनें की नाईं प्रयत्न से किये हुए योगी की अन्य उपाय की अपेक्षा नहीं करतीं॥

इति पातँजलयोगदर्शन द्वितीय पाद सम्पूर्णम्॥

तृतीय पादः प्रारम्भः ॥

विभूति ॥

सूत्र १

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥

अर्थ

किसी विशेष स्थान में चित्त का जो लगजाना है वह ही उस की धारणा है ॥

भाष्य

उक्तानि पञ्च बहिरङ्गानि साधनानि, धारणा वक्तव्या । नाभिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, मूर्द्ध्नि ज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु, बाह्ये वा विषये, चित्तस्य वृत्ति-मात्रेण बन्ध इति धारणा ॥

अर्थ

पांच बहिरंग साधन तो कहे अब धारणा कहते हैं । नाभिचक्र, हृदय-कमल, सिर की ज्योति, नाक की टिहुनी, जीभ की फुलंग आदि स्थानों में अथवा बाहर के विषयों में जो चित्त का केवल अपनी वृत्ति से बंधजाना है वह धारणा कहलाती है ॥

सूत्र २

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥

अर्थ

किसी स्थान में चित्त के लगने पर जो प्रत्यय अर्थात् वृत्ति का एकसा प्रवाह है वह ध्यान है ॥

भाष्य

तस्मिन् देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशप्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम् ॥

अर्थ

उस देश में ध्येय (अर्थात् जिस का ध्यान किया जावे) को आलम्बन करने वाले प्रत्यय की एकतानता अर्थात् एकसा प्रवाह कि जो अन्य प्रत्यय (अर्थात् विजातीय प्रत्यय) से असंसृष्ट होवे ध्यान है॥

सूत्र ३

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥

अर्थ

वह ही ध्यान जब प्रत्ययात्मक अपने स्वरूप से शून्य अर्थात् रहित सा होजाता है और केवल अर्थनिर्भास रूप होता है तो वह समाधि कहलाता है ॥

भाष्य

ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते ॥

अर्थ

ध्यान ही जब ध्येयरूप निर्भासित होता है और अपने प्रत्ययात्मक स्वरूप से शून्य सा ध्येयस्वभाव के आवेश से होजाता है तब समाधि कहलाता है। समाधि आदि की गणना बुद्धिमानों ने इस प्रकार की है कि १२ प्राणायाम बराबर १ धारणा के होते हैं और १२ धारणा=१ ध्यान के और १२ ध्यान= १ समाधि के, और १२ समाधि=१ संप्रज्ञात के, और १२ संप्रज्ञात=१ असंप्रज्ञात के और १२ असंप्रज्ञात=१ कैवल्य और १२ कैवल्य=मुक्ति के ॥

सूत्र ४

त्रयमेकत्र संयमः ॥

अर्थ

एक विषय में धारणा ध्यान और समाधि के इकट्ठे होने को संयम कहते हैं ॥

भाष्य

तदेतत् धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयमः। एकविषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते। तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयमः इति ॥

अर्थ

सो ये तीनों अर्थात् धारणा ध्यान और समाधि एक विषय में होने से संयम के नाम से बोले जाते हैं। एक विषय वाले जब तीनों साधन होवें तो संयम कहलाते हैं। और यह तीनों की तान्त्रिकी (अर्थात् योगशास्त्रीय) परिभाषा है॥

सूत्र ५

तज्जयात् प्रज्ञालोकः॥

अर्थ

उस संयम के जीतने से प्रज्ञा (बुद्धि) का प्रकाश होता है॥

भाष्य

तस्य संयमस्य जयात् समाधिप्रज्ञाया भवत्यालोकः। यथा यथा संयमः स्थिरपदो भवति तथा तथा समाधिप्रज्ञा विशारदी भवति॥

अर्थ

उस संयम के जीतने से समाधिप्रज्ञा का आलोक अर्थात् प्रकाश होता है। जैसे २ संयम स्थिर होता जाता है वैसे २ समाधिप्रज्ञा निर्मल होती है॥

सूत्र ६

तस्यभूमिषु विनियोगः॥

अर्थ

उस संयम का भूमियों (अर्थात् वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता चार भूमियाँ कि जिन का ज़िकर पहिले होचुका है) में विनियोग होता है॥

भाष्य

तस्य संयमस्य जितभूमेर्यानन्तरभूमिस्तत्र विनियोगः। नह्यजिताधरभूमिरनन्तरभूमिं विलंघ्य प्रान्तभूमिषु संयमं लभते। तदभावाच्च कुतः तस्य प्रज्ञालोकः। ईश्वरप्रसादाज्जितोत्तर भूमिकस्य च नाधरभूमिषु पराचित्तज्ञानादिषु संयमो युक्तः। कस्मात्। तदर्थस्यान्यत एवावगतत्वात्। भूमेरस्या इयमनन्तरा भूमिरित्यत्र योग एवोपाध्यायः। कथमेवं ह्युक्तं॥

योगेन योगो ज्ञातव्यो, योगो योगात् प्रवर्तते ।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरं ॥ इति

अर्थ

इस संयम का कि जिस को भूमि जीतली गई है बाद की भूमि में विनियोग होता है। क्योंकि जिसने नीचे की भूमि जीती नहीं वह बाद की भूमि लांघ करके अन्तिम भूमि में संयम नहीं करसक्ता। और जब यह बात नहीं है तो फिर प्रज्ञा का आलोक कहां ? तथापि यदि ईश्वर की कृपा से कोई उत्तर भूमि को जीत लेवे तो उस को अधर भूमियों में परचित्तज्ञानादि संयम युक्त नहीं। क्यों ? क्योंकि वह अर्थ और ही तरह से प्राप्त हुआ है। अब इस बात के बताने के लिये कि इस भूमि की यह अनन्तर भूमि है योग ही सिखाने वाला है अन्य नहीं। सो कैसे ? ऐसा ही कहा है कि (यह व्यासजो को गाथा अर्थात् वचन है) जब कि उन्होंने महाभारत के उपरान्त भ्रमण करके उपदेश किया है योग से ही योग जानना चाहिये (अर्थात् अधर भूमि का योग उत्तर भूमि वाले को बतलाता है सो अधर भूमि का योग करके उत्तर भूमि वाले को जाने) और योग से ही योग प्रवृत्त होता है। जो योग करने से प्रमाद को प्राप्त नहीं होता वह चिर काल तक योग में रमण करता है ॥

सूत्र ७

त्रयमन्तरङ्गम् पूर्वेभ्यः ॥

अर्थ

यह तीनों अर्थात् धारणा ध्यान और समाधि पूर्व कथित पांचों अङ्गों अर्थात् यम नियम आसन प्राणायाम और प्रात्याहार से अन्तरङ्ग हैं ॥

भाष्य

तदेतद्धारणाध्यानसमाधित्रयमन्तरङ्ग सम्प्रज्ञातस्य समाधेः पूर्वेभ्यो यमादिभ्यः पञ्चभ्यः साधनेभ्यः इति ॥

अर्थ

सो ये तीनों धारणा ध्यान और समाधिसम्प्रज्ञात समाधि के पूर्व कथित यमादि पांचों साधनों से अन्तरङ्ग हैं ॥

सूत्र ८

तदपि बहिरङ्गम् निर्बीजस्य ॥

अर्थ

सो तीनों निर्बीज समाधि के बहिरङ्ग हैं ॥

भाष्य

तदप्यन्तरंगं साधनत्रयं निर्बीजस्य योगस्य बहिरंगं भवति। कस्मात्? तदभावे भावादिति। अथ निरोधचित्तक्षणेषु चलं गुणावृत्तमिति। कीदृशस्तदाचित्तपरिणामः॥

अर्थ

वे तीनों अन्तरङ्ग साधन निर्बीज योग के बहिरङ्ग होते हैं। क्यों? क्योंकि संयम के अभाव होने पर निर्बीज योग होता है। अब उन क्षणों में जब कि चित्त निरुद्ध होता है गुणों का स्वभाव तो चलायमान है फिर चित्त का परिणाम कैसा होता है?

सूत्र ९

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥

अर्थ

व्युत्थान और निरोधसंस्कारों के अभिभव और प्रादुर्भाव होने पर अर्थात् जब व्युत्थान संस्कार का अभिभव होजाता है और निरोध संस्कार का प्रादुर्भाव होता है तो चित्त निरोधक्षणों में अन्वित होता है वह चित्त का निरोध परिणाम है॥

भाष्य

व्युत्थानसंस्काराश्चित्तधर्मा। न ते प्रत्ययात्मका इति। प्रत्ययनिरोधे न निरुद्धा। निरोधसंस्कारा अपि चित्तधर्मास्तयोरभिभवप्रादुर्भावौ, व्युत्थानसंस्कारा हीयन्ते, निरोधसंस्कारा आधीयन्ते, निरोधक्षणं चित्तमन्वेति, तदेकस्य चित्तस्य प्रतिक्षणमिदं संस्कारान्यथात्वं निरोधपरिणामस्तदा संस्कारशेषं चित्तमिति निरोधसमाधौ व्याख्यातम्॥

अर्थ

व्युत्थान संस्कार चित्त के धर्म हैं। और वे प्रत्ययरूप नहीं हैं और न प्रत्यय (वृत्ति) के निरुद्ध होने पर निरुद्ध होते हैं। निरुद्ध संस्कार भी चित्त के धर्म हैं। इन दोनों के अभिभव प्रादुर्भाव होने पर अर्थात् व्युत्थान संस्कार का जब अभिभव होजाता है और निरोध संस्कार का प्रादुर्भाव होता है तो व्युत्थान संस्कार क्षीण होते हैं और निरोध संस्कार बढ़ते हैं। और जिन २ क्षणों में निरोध होता है उन में चित्त अन्वित होता है। सो यह एक चित्त का क्षण क्षण और तरह का संस्कार होता है। वह निरोध परिणाम है। उस समय चित्त केवल संस्कारमात्र रहता है और यह ही निरोध समाधि में कथन करिआये हैं ॥

सूत्र १०

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥

अर्थ

निरोध संस्कार की वजह से चित्त को शुद्ध प्रवाहन शीलता होती है ॥

भाष्य

निरोधसंस्कारात् निरोधसंस्काराभ्यासपाटवापेक्षा प्रशान्त-वाहिता चित्तस्य भवति। तत्संस्कारमान्द्ये व्युत्थानधर्मिणा संस्कारेण निरोधधर्मः संस्कारोभिभूयत इति ॥

अर्थ

निरोध संस्कार से चित्त को प्रशान्तवाहिता (अर्थात् शुद्ध सत्व प्रवाहन शीलता वा शुद्ध और शान्त रूप से प्रवाहन का स्वभाव) कि जिस में निरोध संस्कार के अभ्यास की कुशलता की अपेक्षा है होती है। उस संस्कार के मन्दे होने पर व्युत्थान धर्म वाले संस्कार से निरोध धर्म वाला संस्कार दब जाता है ॥

सूत्र ११

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥

अर्थ

सर्वार्थता और एकाग्रता के क्षय और उदय होने पर अर्थात् जब सर्वार्थता का क्षय होता है और एकाग्रता का उदय होता है तो चित्त का समाधिपरिणाम होता है ॥

भाष्य

सर्वार्थता चित्तधर्मः। एकाग्रता चित्तधर्मः। सर्वार्थतायाः क्षयस्तिरोभावः इत्यर्थः। एकाग्रताया उदय आविर्भाव इत्यर्थः। तयोर्धर्मित्वेनानुगतं चित्तं। तदिदं चित्तमपायोपजनयोः स्वात्मभूतयोर्धर्मयोरनुगतं समाधीयते। स चित्तस्य समाधिपरिणामः॥

अर्थ

सब अर्थों में लगना चित्त का धर्म है। ऐसे ही एक अर्थ में लगना भी चित्त का धर्म है। सर्वार्थता का क्षय उस का तिरोभाव है। और एकाग्रता का उदय उस का आविर्भाव है। दोनों में चित्त धर्मी होने की वजह से अन्वित है। सो यह चित्त अपने में उत्पन्न अपाय और उपजन धर्मों में अनुगत समाधान किया जाता है और वह चित्त का समाधि परिणाम है॥

सूत्र १२

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः॥

अर्थ

तिस से अर्थात् समाधि परिणाम के उपरान्त जब पहिला और पिछला प्रत्यय एकसा ही होता है तो चित्त का एकाग्रता परिणाम होता है॥

भाष्य

समाहितचित्तस्य पूर्वप्रत्ययः शान्त, उत्तरस्तत्सदृश उदितः, समाधिचित्तमुभयोरनुगतं, पुनस्तथैव। आसमाधिभ्रेषादिति। स खल्वयं धर्मिणश्चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः॥

अर्थ

समाधान चित्त का पहिला प्रत्यय शान्त है और उसी के सदृश उत्तर प्रत्यय उदित है और समाधि चित्त दोनों में अनुगत है और फिर भी वैसा ही हो जब तक कि समाधि न टूट जावे तो वह धर्मी चित्त का एकाग्रता परिणाम है॥

सूत्र १३

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥

अर्थ

इस पूर्व कथन से (अर्थात् चित्त परिणामों के तज़किरे से) भूत और इन्द्रियों के धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम और अवस्था परिणाम भी व्याख्यात हैं ॥

भाष्य

एतेन पूर्वोक्तेन चित्तपरिणामेन धर्मलक्षणावस्थारूपेण भूतेन्द्रियेषुधर्मपरिणामो लक्षणपरिणामश्चावस्थापरिणामश्चोक्तो वेदितव्यः । तत्र व्युत्थाननिरोधयोर्धर्मयोरभिभवप्रादुर्भावौ धर्मिणि धर्मपरिणामो । लक्षणपरिणामश्च, निरोधस्त्रिलक्षणः त्रिभिरध्वभिर्युक्तः, स खल्वनागतलक्षणमध्वानं प्रथमं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तो वर्तमानं लक्षणं प्रतिपन्नः यत्रास्य स्वरूपेणाभिव्यक्तिरेषोऽस्यद्वितीयोऽध्वा, न चातीतानागताभ्यां वियुक्तः । तथा व्युत्थानं त्रिलक्षणं, त्रिभिरध्वभिर्युक्तं, वर्तमानं लक्षणं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तमतीतलक्षणं प्रतिपन्नमेषोऽस्य तृतीयोऽध्वा, नचानागतवर्तमानाभ्यां लक्षणाभ्यां वियुक्तः। एवं पुनर्व्युत्थानमुपसम्पद्यमानमनागतलक्षणं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तं वर्तमानं लक्षणं प्रतिपन्नं यत्रास्य स्वरूपाभिव्यक्तौ सत्यां व्यापार एषोऽस्य द्वितीयोऽध्वा न चातीतानागताभ्यां वियुक्तमित्येवं पुनर्निरोध एवं पुनर्व्युत्थानमिति । तथाऽवस्थापरिणामो । निरोधक्षणेषु निरोधसंस्कारा बलवन्तो भवन्ति, दुर्बला व्युत्थानसंस्कारा इत्येषधर्माणामवस्थापरिणामः । तत्र धर्मिणो धर्मैः परिणामो धर्माणां, अध्वनां लक्षणैः परिणामो, लक्षणानामप्यवस्थाभिः परिणामः इत्येवं

धर्मलक्षणावस्थापरिणामैः शून्यं न क्षणमपि गुणवृत्तमवतिष्ठते। चलञ्च गुणवृत्तं। गुणस्वाभाव्यन्तु प्रवृत्तिकारणमुक्तं गुणानामिति। एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मधर्मिभेदात् त्रिविधपरिणामो वेदितव्यः। परमार्थतस्त्वेक एव परिणामः। धर्मिस्वरूपमात्रो हि धर्मो। धर्मिविक्रियैवैषा धर्मद्वारा प्रपञ्च्यते इति। तत्र धर्मस्य धर्मिणि वर्तमानस्यैवाध्वस्वतीतानागतवर्तमानेषु भावान्यथात्वं भवति न द्रव्यान्यथात्वं। यथा सुवर्णभाजनस्य भित्वान्यथाक्रियमाणस्य भावान्यथात्वं भवति न सुवर्णान्यथात्वमिति। अपर आह— धर्मानभ्यधिको धर्मी पूर्वतत्वानतिक्रमात्। पूर्वपरावस्थाभेदमनुपतितः कौटस्थ्येन विपरिवर्तेत यद्यन्वयी स्यादित्ययमदोषः। कस्मात्? एकान्तानभ्युपगमात्। तदेतत् त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात्। अपेतमप्यस्ति, विनाशप्रतिषेधात्। संसर्गाच्चास्य सौक्ष्म्यं। सौक्ष्म्याच्चानुपलब्धिरिति। लक्षणपरिणामः धर्मोऽध्वसु वर्तमानः अतीतोऽतीतलक्षणयुक्तोऽनागतवर्तमानाभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्तस्तथाऽनागतोऽनागतलक्षणयुक्तः वर्तमानातीताभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्तस्तथा वर्तमानलक्षणयुक्तोऽतीतानागताभ्यामवियुक्त इति। यथा पुरुष एकस्यां स्त्रियां रक्तो न शेषासु विरक्तो भवतीति। अत्र लक्षणपरिणामे सर्वस्य सर्वलक्षणयोगादध्वसङ्करः प्राप्नोति परैर्दोषश्चोद्यत इति? तस्य परिहारे धर्माणां धर्मत्वमप्रसाध्य। सति च धर्मत्वे लक्षणभेदोपि वाच्यो, न वर्तमान समय एवास्य धर्मत्वं। एवं हि न चित्तं रागधर्मकं स्यात् क्रोधकाले रागस्यासमुदाचारादिति। किञ्च त्रयाणां लक्षणानां युगपदेकस्यां व्यक्तौ नास्ति सम्भवः। क्रमेण तु स्वव्यञ्जकाञ्जनस्य भावोभवेदिति। उक्तञ्च। रूपातिशया वृत्यतिशाश्च विरुध्यन्ते, सामान्यानित्वतिशयैः सह प्रवर्तन्ते। तस्मादसङ्करो।

यथा रागस्यैव क्वचित् समुदाचार इति। न तदानीमन्यत्राभावः। किन्तु केवलं सामान्येन समन्वागत इत्यस्ति। तदा तत्र तस्य भावः। तथा लक्षणस्येति। न धर्मी त्र्यध्वा, धर्मास्तु त्र्यध्वानस्ते लक्षिता अलक्षिताश्च। तां तामवस्थां प्राप्नुवन्तोऽन्यत्वेन प्रतिनिर्दिश्यन्ते अवस्थान्तरतो न द्रव्यान्तरतः। यथैकारेखा शतस्थाने शतं दशस्थाने दशैका चैकस्थाने, यथाचैकत्वेपि स्त्री माता चोच्यते दुहिता च स्वसा चेति। अवस्थापरिणामे कौटस्थ्यप्रसङ्गदोषः कैश्चिदुक्तः। कथं? अध्वनो व्यापारेण व्यवहितत्वात्। यदा धर्मः स्वव्यापारं न करोति तदानागतः। यदा करोति तदा वर्तमानः। यदा कृत्वा निवृत्तस्तदातीत इत्येवं धर्मधर्मिणोर्लक्षणानामवस्थानाञ्च कौटस्थ्यं प्राप्नोतीति परैर्दोषः उच्यते। नासौ दोषः। कस्मात्। गुणनित्यत्वेपि गुणानां विमर्दवैचित्र्यात्। यथासंस्थानमादिमद्धर्ममात्रं शब्दादीनां विनाश्यविनाशिनामेवं लिङ्गमादिमद्धर्ममात्रं सत्वादीनां गुणानां विनाश्यविनाशिनां। तस्मिन् विकारसंज्ञेति। तत्रेदमुदाहरणं। मृद्धर्मी पिण्डाकाराद्धर्माद्धर्मान्तरमुपसम्पद्यमानो धर्मतः परिणमते घटाकार इति। घटाकारोनागतं लक्षणं हित्वा वर्तमानलक्षणं प्रतिपद्यते इति लक्षणतः परिणमते। घटो नवपुराणतां प्रतिक्षणमनुभवन् अवस्थापरिणामं प्रतिपद्यत इति। धर्मिणोपि धर्मान्तरमवस्था। धर्मस्यापि लक्षणान्तरमवस्थेति। एक एव द्रव्यपरिणामः भेदेनोपदर्शित इति। एवं पदार्थान्तरेष्वपि योज्यमिति। एते धर्मलक्षणावस्था परिणामा धर्मिस्वरूपमनतिक्रान्ता इत्येक एव परिणामः सर्वानमून् विशेषानभिप्लवते। अथ कोयं परिणामः? अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मान्निवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणाम इति॥

अर्थ

पूर्व में जो चित्त के परिणाम कथन हुए हैं उन में धर्मलक्षण और अवस्था करके पंच भूत और इन्द्रियों के धर्मपरिणाम लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम कथित समझो। इन में से धर्मपरिणाम व्युत्थान धर्म के दब जाने और निरोध धर्म के उदय होने पर धर्मी (अर्थात् चित्त) में होता है और लक्षणपरिणाम इस तरह पर होता है—निरोध तीन लक्षण (जिस से चीज़ लक्षित की जावे वह लक्षण है अर्थात् काल भेद क्योंकि उस से लक्षित वस्तु दूसरी वस्तुओं से कि जो कालान्तर से युक्त हैं पृथक् होती है) वाला इसलिये तीन कालों करके युक्त है। वह निरोध अनागतलक्षण वाले पहिले काल को छोड़ कर धर्मत्व को बिना उल्लंघन किये वर्तमान लक्षण (अर्थात् काल) को प्राप्त है जिस में उस की अपने स्वरूप करके अभिव्यक्ति है और यह उस का दूसरा अध्व (अर्थात् काल) है कि जो अतीत और अनागत अध्वों से अलग नहीं है। तैसे ही व्युत्थान भी तीन लक्षण वाला है और तीन अध्व करके युक्त है। वह वर्तमान लक्षण को छोड़ कर धर्मत्व को बिना उल्लंघन किये अतीतलक्षण को प्राप्त है और यह उस का तीसरा अध्व है कि जो अनागत और वर्तमान लक्षणों से वियुक्त नहीं। ऐसे ही जब फिर व्युत्थान उपसम्पद्यमान अर्थात् उपस्थित होता है तो अनागत लक्षण को त्याग कर और धर्मत्व को बिना उल्लंघन किये वर्तमान लक्षण में प्राप्त होता है और तब अपने रूप की अभिव्यक्ति होने पर व्यापर हो उस का दूसरा अध्व है कि जो अतीत और अनागत लक्षणों से वियुक्त नहीं है। ऐसे ही फिर निरोध होता है और फिर व्युत्थान होता है आदि। तैसे ही अवस्थापरिणाम भी है:—निरोधक्षणों में निरोध संस्कार बलवान होते हैं और व्युत्थान संस्कार दुर्बल होते हैं। यह ही धर्मी का अवस्थापरिणाम है। धर्मी के धर्म रूप से धर्मी का परिणाम होता है और अध्वों का लक्षण रूप से परिणाम होता है और लक्षणों का भी अवस्थारूप से परिणाम है। इस तरह पर धर्मलक्षणा और अवस्था परिणामों से रहित क्षण भर भी गुणवृत्त नहीं ठहरता क्योंकि गुणवृत्त चलायमान है और गुण का स्वभाव ही गुणों की प्रवृत्ति का कारण कहाजाता है। इस कथन से पंचभूत और इन्द्रियों में धर्म और धर्मि के भेद से तीन प्रकार के परिणाम जानो। परन्तु परमार्थ दृष्टि से देखो तो एक ही परिणाम है क्योंकि धर्म केवल धर्मी का स्वरूपमात्र है और धर्मी की विक्रिया ही धर्म द्वारा विस्तार रूप से निरूपण की जाती है। अतः धर्मी में वर्तमान धर्म का ही अतीत अनागत और वर्तमान अध्वों में भावान्यथात्व (अर्थात् भाव का अन्यथा होना) होता है द्रव्यान्यथात्व नहीं। जैसे सोने

के वर्तन को तोड कर और कोई प्रकार का वर्तन वा आभूषण बनाने से भावान्यथात्व होता है न कि सुवर्णान्यथात्व यानी सोने पन से वह पृथक् नहीं होता प्रकारान्तर होजाता है। अब कोई पुरुष ने कहा कि ऐसा बचन है कि धर्मी अपने पूर्व स्वरूप को अतिक्रमण न करने की वजह से धर्म से अधिक नहीं है। तो जो अन्वयी होइ वह पूर्व और अपर अवस्था भेद को प्राप्त कौटस्थ रूप से परिवर्तित होवे ? यह ही दोष है। क्योंकि एकस्वरूपता का स्वीकार नहीं है अर्थात् धर्मी यानो चित्त एकरूप में नहीं रहता। अतः तीनों लोक जैसे कि वर्तमान काल में हैं व्यक्तता से रहित होते हैं क्योंकि उन का नित्यत्व नहीं और व्यक्तता से रहित होने पर भी विद्यमान रहते हैं क्योंकि उन का विनाश नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि कारण में लीन होनें से तीनों लोकों की सूक्ष्मता होती है और सूक्ष्मता से उन की उपलब्धि नहीं होती। इस को इस तरह पर समझना चाहिये कि एक समय में जैसे तीनों लोक थे वे वैसे आगामी कालान्तर में नहीं तो पूर्व काल में जैसे तोनों लोक थे उन का विनाश नहीं होता परन्तु प्रधान वा प्रकृति में लीन होने से उन का सौक्ष्म्य होता है जिस से उन की उपलब्धि नहीं होती है। अब लक्षण परिणाम जो धर्म है सो अध्वों (अर्थात् काल भेदों) में वर्तमान है वह जब अतीत होता है तो अतीत लक्षण करके युक्त होता है परन्तु अनागत और वर्तमान लक्षणों से वियुक्त नहीं होता। तैसे ही अनागत लक्षण परिणाम अनागत काल से युक्त है परन्तु वर्तमान और अतीत कालों से विलग नहीं। और तैसे ही वर्तमान लक्षण परिणाम वर्तमान काल से युक्त है परन्तु अतीत और अनागत कालों से वियुक्त नहीं मस्लन् कोई पुरुष एक स्त्री से प्रीति रखता है तो यह बात नहीं है कि वह बाक़ी स्त्रियों से विरक्त होवे। इस लक्षण परिणाम में अन्य पुरुष यह दोष लगाते हैं कि सब अध्वों को सब लक्षणों से युक्त होनें से अध्वों में गड़बड़ प्राप्त होती है। उस का परिहार यह है कि धर्मी का धर्मत्व अजन्य अर्थात् नित्य है और जब धर्मत्व है तो लक्षण भेद भी कहा जाता है क्योंकि वर्तमान समय में हो धर्म का धर्मत्व नहीं होता। ऐसे ही क्रोध के समय चित्त राग धर्म वाला नहीं होता क्योंकि राग का उस समय समुदाचार नहीं अर्थात् वह अपने व्यापार को नहीं करता। और भी देखो। तीनों लक्षणों अर्थात् कालों का एकदम एक ही चीज़ में होना सम्भव नहीं किन्तु क्रम से ही अपने को प्रगट करने वाले के अनुरूपी का भाव होता है। पंचशिख ने भी कहा है कि रूपातिशय (अर्थात् धर्म ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य और अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य) और वृत्यतिशय (अर्थात् शान्त, घोर और मूढ़) आपस में विरुद्ध हैं

और सामान्य अतिशय के साथ प्रवृत्त होते हैं। मस्लन् जब धर्म अतिशय में है तो अधर्म का तिरोभाव होजाता है और बाक़ी के छै अर्थात् ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य और इन तीनों के उल्टे कि जो अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य हैं अतिशय के साथ प्रवृत्त होते हैं। इसलिये सङ्कर अर्थात् गड़बड़ी नहीं होती। जैसे राग हो का कहीं समुदाचार होवै तो उस समय उस का अन्यत्र अभाव नहीं है किन्तु वह व्यापार रहित सामान्य के साथ प्रवृत्त है इसलिये वह विद्यमान है और उस समय अर्थात् समुदाचार के वक़्त उस का उस मौक़े पर भाव (यानी प्रगटता) है। तैसे ही लक्षण का भी जानो। धर्मी तीन अध्व वाला नहीं धर्म तीन अध्व वाले हैं और वे स्पष्ट और गुप्त हैं व उन २ अवस्थाओं को प्राप्त होकर अवस्थान्तर के ख़्याल से अन्यत्व के साथ दिखाये जाते हैं नकि द्रव्यान्तर के ख़्याल से जैसे एक लकीर सौ के स्थान पर सौ है दस के स्थान पर दस और एक की जगह एक है अथवा जैसे एक ही स्त्री मा बेटी और सास होती है। अवस्थापरिणाम में भी कोई कोई कूटस्थता का दोष लगाते हैं। कैसे ? क्योंकि अध्वों के व्यापार से अवस्थापरिणाम व्यवहित है। जब धर्म अपने व्यापार को नहीं करता है तब वह अनागत है, जब वह करता है तब वर्तमान है और जब करके निवृत्त होजाता है तब वह अतीत है इस प्रकार धर्म और धर्मी के लक्षण और अवस्था परिणामों की कूटस्थता प्राप्त होती है यह दोष अन्य लोग लगाते हैं। सो यह दोष नहीं है। क्योंकि गुणों के नित्य होने पर भी गुणों का परस्पर विचित्र संघर्षण है। जैसे अविनाशी शब्दादियों का संस्थान आदिमत् (अर्थात् आदि जिस को होइ) धर्ममात्र और विनाशी है ऐसे ही अविनाशी सत्वादि गुणों का लिङ्ग आदिमत् और धर्ममात्र है और इसी लिङ्ग में विकारसंज्ञा है। इस का उदाहरण यह है। मिट्टी धर्मी पिण्डाकार धर्म से धर्मान्तर को प्राप्त धर्म की वजह से घटाकार में परिणमन होती है। घटाकार अनागत लक्षण को त्याग कर वर्तमान लक्षण को प्राप्त होता है सो लक्षण के हिसाब से परिणाम को प्राप्त होता है। घट में नवीनता से पुराणता क्षण क्षण होती है जिस से उस का अवस्था परिणाम होता है। धर्मी का धर्मान्तर भी अवस्था है और धर्म का लक्षणान्तर भी अवस्था है। इस प्रकार एक ही प्रकृति का परिणाम है और वह भेद से दिखाया जाता है। इस प्रकार पदार्थान्तरों में भी लगाना चाहिये। यह धर्म लक्षण और अवस्था परिणाम धर्मी के स्वरूप को अतिक्रान्त नहीं करते जिस से एक ही परिणाम इन सब विशेषों में अभिव्याप्त आत्मरूप करके होता है। अब यह परिणाम कौन है ? स्वसत्ता को त्यागन करनेवाली द्रव्य के पूर्व धर्म (कि जिस में

लक्षण और अवस्था भी शामिल हैं) के तिरोभाव होने पर धर्मान्तर की उत्पत्ति अर्थात् आविर्भाव है वह परिणाम है ॥

सूत्र १४

तत्र शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥

अर्थ

तहाँ (अर्थात् तिन परिणामों में) धर्मी अतीत वर्तमान और अनागत धर्मों में अन्वित है यानी सब धर्मों में उस का अनुपतन है ॥

भाष्य

योग्यतावच्छिन्ना धर्मिणः शक्तिरेव धर्मः। स च फलप्रसव-भेदानुमितसद्भावः, एकस्यान्योन्यश्च परिदृष्टः। तत्र वर्तमानः स्वव्यापारमनुभवन् धर्मो धर्मान्तरेभ्यः शान्तेभ्यश्चाव्यपदेश्येभ्य-श्चभिद्यते, यदा तु सामान्येन समन्वागतो भवति, तदा धर्मि-स्वरूपमात्रत्वात् कोऽसौ केनभिद्येत। तत्र ये खलु धर्मिणोधर्माः शान्ता उदिताऽव्यपदेश्याश्चेति। तत्र शान्ता। येकृत्वा व्यापा-रानुपरताः, सव्यापारा उदितास्तेचानागतस्य लक्षणस्य समन-न्तराः। वर्तमानस्यानन्तरा अतीताः। किमर्थमतीतस्यानन्तरा न भवन्ति वर्तमानाः ? पूर्वपश्चिमताया अभावात्। यथानागतवर्त-मानयोः पूर्वपश्चिमता, नैवमतीतस्य, तस्मान्नातीतस्यास्ति सम-नन्तरस्तदानागत एव समनन्तरो भवति वर्तमानस्येति। अथा-व्यपदेश्याः के ? सर्वं सर्वात्मकमिति। यत्रोक्तम्। जलभूम्योः पारिणामिकं रसादि वैश्वरूप्यं स्थावरेषु दृष्टं तथा स्थावराणां जङ्गमेषु जङ्गमानां स्थावरेष्वित्येवं जात्यनुच्छेदेन सर्वं सर्वात्मक-मिति। देशकालाकारनिमित्तोपबन्धान्न खलु समानकालमात्म-नामभिव्यक्तिरिति। य एतेष्वभिव्यक्तानभिव्यक्तेषु धर्मेषु अनु-पाती सामान्यविशेषात्मा, सोऽन्वयी धर्मी। यस्य तु धर्ममात्र-

मेवेदं निरन्वयं तस्य भोगाभावः। कस्मात्? अन्येन विज्ञानेन कृतस्य कर्मणोऽन्यत् कथं भोक्तृत्वेनाधिक्रियेत। तत्स्मृत्यभावश्च। नान्यदृष्टस्य स्मरणमन्यस्यास्तीति। वस्तुप्रत्यभिज्ञानाच्च स्थितोन्वयी धर्मीयोधर्मान्यथात्वमभ्युपगतः प्रत्यभिज्ञायते। तस्मान्नेदं धर्ममात्रं निरन्वयमिति ॥

अर्थ

योग्यता से अवच्छिन्न धर्मी की शक्ति ही धर्म है और उस का सद्भाव उत्पन्नफलभेद से अनुमान किया जाता है। और एक ही धर्मी के अन्योन्य धर्म देखे गये हैं। तिन में से वर्तमान धर्म अपने व्यापार को अनुभव करता हुआ अतीत और अनागत धर्मों से भिन्न है। और जब सामान्य (अर्थात् धर्मि स्वरूपमात्र) के साथ समन्वागत होता है तो धर्मि के स्वरूपमात्र होने की वजह से किस से कौन भिन्न होवै। अब जो धर्मी के धर्म शान्त उदित और अव्यपदेश्य हैं उन में से शान्त तो वे हैं जो व्यापार करके उपरत होगये और जो व्यापार सहित हैं वे उदित हैं और अनागत लक्षण के समनन्तर अर्थात् पीछे हैं। वर्तमान के अनन्तर अतीत हैं। अब प्रश्न यह है कि अतीत के अनन्तर वर्तमान क्यों नहीं होता? सबब यह है कि उन दोनों में पहिला पीछापन नहीं है। जैसे अनागत और वर्तमान को पूर्व पश्चिमता है वह अतीत को नहीं। तिस से अतीत का समनन्तर नहीं है। तो फिर वर्तमान का समनन्तर अनागत ही होता है। पुनः अव्यपदेश्य (अर्थात् अनागत यानी जिन का व्यवहार न हो) कौन हैं? सब वस्तुएं सर्वरूप हैं। यथा जल और भूमि का परिणाम को प्राप्त रसादि जो सर्वरूप्य है स्थावरों में देखा गया है तैसे ही स्थावरों का जङ्गमों में और जङ्गमों का स्थावरों में इस तरह पर जाति को बिना त्याग किये सब वस्तु सर्वरूप हैं। और भिन्न भावों की अभिव्यक्ति देश-काल आकार और निमित्त की रोक से समान काल, समान देश, समान आकार और समान निमित्त में नहीं होती। अब जो इन अभिव्यक्त अर्थात् वर्तमान और अनभिव्यक्त अर्थात् अतीत और अनागत धर्मों में सामान्य और विशेषरूप करके अनुपतित है वह अन्वयी धर्मी है। और जिस पुरुष का यह मत है कि यह सब जगत धर्ममात्र है और अन्वय रहित है उस को तो भोग का अभाव है। क्यों? क्योंकि अन्य विज्ञान से कृत कर्म का अन्य विज्ञान कैसे भोक्तृत्व से अधिकृत (अधिकार युक्त) किया जावे। पुनः उस की स्मृति का अभाव भी होगा

क्योंकि अन्य विज्ञान से दृष्ट वस्तु का अन्य विज्ञान को स्मरण नहीं होता है। और वस्तु के प्रत्यभिज्ञान से यानी यह वह ही वस्तु है इस प्रकार के ज्ञान से अन्वयी धर्मी कायम हुआ जो अन्य २ धर्मों को प्राप्त होकर पहचाना जाता है। अतः यह सब जो देखा जाता है केवल धर्ममात्र निरन्वय नहीं है॥

सूत्र १५

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः॥

अर्थ

परिणाम के अन्यत्व होने में क्रम का अन्यत्व कारण होता है॥

भाष्य

एकस्य धर्मिण एक एव परिणाम इति प्रसक्ते: क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुर्भवतीति। तद् यथा चूर्णमृत्पिण्डमृद्घट-मृत्कपाल मृत्कणमृदिति च क्रमः। यो यस्य धर्मस्य समनन्तरो धर्मः स तस्य क्रमः। पिण्डः प्रच्यवते घट उपजायते इति धर्म-परिणामक्रमः। लक्षणपरिणामक्रमो घटस्यानागतभावाद्वर्तमान-भावक्रमः, तथा पिण्डस्य वर्तमानभावादतीतभावक्रमः। नाती-तस्यास्ति क्रमः। कस्मात् पूर्वापरतायां सत्यां समनन्तरत्वं। सा तु नास्त्यतीतस्य। तस्मात् द्वयोरेव लक्षणयोः क्रमः। तथावस्था-परिणामक्रमोपि घटस्याभिनवस्य प्रान्ते पुराणता दृश्यते। सा च क्षणपरम्परानुपातिना क्रमेणाभिव्यंज्यमाना परां व्यक्तिमा-पद्यत इति। त एते क्रमा धर्मधर्मिभेदे सति प्रतिलब्धस्वरूपाः। धर्मोपि धर्मी भवत्यन्यधर्मस्वरूपापेक्षयेति। यदा तु परमार्थतो धर्मिण्यभेदोपचारात्तद्द्वारेण सएवाभिधीयते धर्मस्तदायमेकत्वे-नैव क्रमः प्रत्यवभासते। चित्तस्य द्वये धर्माः परिदृष्टाश्चापरि-दृष्टाश्च। तत्र प्रत्ययात्मकाः परिदृष्टाः। वस्तुमात्रात्मका अपरि-दृष्टास्ते च सप्तैव भवन्त्यनुमानेन प्रापितवस्तुमात्रसद्भावाः। "निरोधधर्म संस्काराः परिणामोथ जीवनं। चेष्टा शक्तिश्च

चित्तस्य धर्मादर्शनवर्जिता" इति। अतो योगिन उपात्तसर्व-साधनस्य बुभुत्सितार्थप्रतिपत्तये संयमस्य विषय उपक्षिप्यते ॥

अर्थ

जब यह बात सिद्ध होगई कि एक धर्मी का एक ही परिणाम है तो क्रम का अन्यत्व परिणाम के अन्यत्व होने में कारण होता है। मसलन् धूल, मिट्टी का गोला, मिट्टी का घड़ा, मिट्टी का खपड़ा, मिट्टी के ज़र्रे और फिर धूल। यह क्रम है, जो जिस धर्म का समनन्तर धर्म है वह उस का क्रम है। पिण्ड जब अपनी अवस्था से च्युत होता है तो घड़ा बन जाता है यह धर्म परिणाम का क्रम है। और घट का अनागत भाव से वर्तमान भाव में आने का जो क्रम है वह लक्षणपरिणाम क्रम है। तैसे ही पिण्ड का वर्तमानभाव से अतीतभाव क्रम होता है परन्तु अतीत का क्रम नहीं होता। क्यों नहीं होता? क्योंकि पूर्वपरता होने से समनन्तरत्व होता है और वह अतीत में नहीं इसलिये दोही लक्षणों का क्रम होता है। तैसे हीं अवस्था परिणाम का भी क्रम है। देखो नये घट का पुरानापन बहुत काल पीछे दिखलाई देता है और वह पुरानापन, उस क्रम के अनुसार कि जिस का अनुपतन क्षणों की परम्परा में है प्रगट होकर पराकाष्टा को प्राप्त होता है। और यह परिणाम धर्म और लक्षण परिणामों से विशिष्ट है। ये क्रम धर्म और धर्मी के भेद होने पर, अपने स्वरूप को प्राप्त होते हैं। धर्म भी अन्यधर्मस्वरूप की अपेक्षा से धर्मी होजाता है। और जब परमार्थ के ख़्याल से धर्मी में अभेद का उपचार किया जावे अर्थात् अभेद समझलें तो उस धर्मी की द्वारा वह ही धर्मी धर्म कहाजाता है और फिर तब यह क्रम एक ही मालूम होता है। चित्त के दो धर्म हैं एक तो परिदृष्ट (अर्थात् प्रत्यक्ष) और दूसरे अपरिदृष्ट। इन में से जो वृत्तिरूप हैं वे परिदृष्ट हैं और जो वस्तुमात्ररूप अर्थात् रागादि हैं वे अपरिदृष्ट हैं। अपरिदृष्ट सात ही हैं और उन का वस्तुमात्र सद्भाव अनुमान से सिद्ध है। और वे ये हैं:—

(१) निरोध—व्युत्थान से अनुमान किया जाता है
(२) धर्म—सुख और दुःख से ,,
(३) संस्कार—स्मृति से ,,
(४) परिणाम—अवस्था से ,,
(५) जीवन—श्वास और प्रश्वास क्रिया से ,,
(६) चेष्टा—ज्ञानादि क्रिया से ,,
(७) शक्ति—कार्य्य से ,,

ये सातो धर्म देखने में नहीं आते अतः अपरिदृष्ट हैं। इसलिये जिस योगी ने सब साधन उपात्त अर्थात् ग्रहण कर लिये हैं यानी सर्व साधनसम्पन्न हैं उस के लिये संयम का विषय अगाडी धरा जाता है ताकि उस को बुभुत्सित (अर्थात् जिस की बड़ी उत्कण्ठा हो) अर्थ की प्रतिपत्ति अर्थात् यथावत् साक्षात्कार होजावे ॥

सूत्र १६

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानं ॥

अर्थ

तीनों परिणामों में संयम करने से योगी को अतीत और अनागत का ज्ञान होता है॥

भाष्य

धर्मलक्षणावस्थापरिणामेषु संयमात् योगिनां भवत्यतीतानागतज्ञानं। धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयम उक्तस्तेन परिणामत्रयं साक्षात्क्रियमाणमतीतानागतज्ञानं तेषु सम्पादयति ॥

अर्थ

धर्म लक्षण और अवस्था परिणामों में संयम करने से योगी को अतीत और अनागत का ज्ञान होता है। धारणा ध्यान समाधि तीनों जब एकत्र होजाते हैं तो वह संयम है कह आये हैं। उस संयम से जब तीनों परिणाम साक्षात्कार किये जाते हैं तो उन में अतीत और अनागत का ज्ञान (योगी को) उत्पन्न होता है ॥

सूत्र १७

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् सङ्कर-स्तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम ॥

अर्थ

शब्द अर्थ और ज्ञान में से एक दूसरे के अध्यास (अर्थात् अतद्भूत को तद्भावापत्ति यानी है तो कुछ और पर उस को दूसरे भाव की आपत्ति हो) से संकर यानी गड़बड़ी होती है। सो इन तीनों के प्रविभाग में संयम करने से सब प्राणियों के रुत अर्थात् शब्द और उस के अर्थ का ज्ञान योगी को होता है ॥

तत्र वाग् वर्णेष्वेवार्थवती । श्रोत्रञ्च ध्वनिपरिणाममात्र-
विषयं । पदं पुनर्नादानुसंहारबुद्धिनिर्ग्राह्यमिति । वर्णा एक
समयासम्भवित्वात् परस्परनिरनुग्रहात्मानस्ते पदमसंस्पृश्यानु-
पस्थाप्याविर्भूतास्तिरोभूताश्चेति । प्रत्येकमपदस्वरूपा उच्यन्ते।
वर्णः पुनरेकैकः पदात्मा सर्वाभिधानशक्तिप्रचितः सहकारिवर्णा-
न्तरप्रतियोगित्वाद्वैश्वरूप्यमिवापन्नः पूर्वश्चोत्तरेणोत्तरश्च पूर्वेण
विशेषेऽवस्थापित इत्येवं बहवो वर्णाः क्रमानुरोधिनोऽर्थसंकेतेना-
वच्छिन्ना । इयन्त एते सर्वाभिधानशक्तिपरिवृत्ता गकारौकार-
विसर्जनीयाः सास्नादिमन्तमर्थं द्योतयन्तीति । तदेतेषां अर्थ-
संकेतेनावच्छिन्नानामुपसंहृतध्वनिक्रमाणां य एको बुद्धिनिर्भास-
स्तत्पदं, वाचकं वाच्यस्य संकेत्यते । तदेकं पदमेकबुद्धिविषय
एकप्रयत्नाक्षिप्तमभागक्रममवर्णं बौद्धमन्त्यवर्णप्रत्ययव्यापारोप-
स्थापितं परत्र प्रतिपिपादयिषया वर्णैरेवाभिधीयमानैः श्रूयमाणैश्च
श्रोतृभिरनादिवाग्व्यवहारवासनानुविद्धया लोकबुद्ध्या सिद्धवत्
संप्रतिपत्त्या प्रतीयते । तस्य संकेतबुद्धितः प्रविभागः । एता-
वतामेवं जातीयकोऽनुसंहारः एकस्यार्थस्य वाचक इति । संकेत-
स्तु पदपदार्थयोरितरेतराध्यासरूपः स्मृत्यात्मको, योऽयं शब्दः
सोऽयमर्थो, योऽर्थः स शब्द, इत्येवमितरेतराध्यासरूपः संकेतो
भवति इत्येवमेते शब्दार्थप्रत्यया इतरेतराध्यासात् सङ्कीर्णाः ।
गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरितिज्ञानं । य एषां प्रविभागज्ञः
स सर्ववित् । सर्वपदेषु चास्ति वाक्यशक्तिर्वृक्ष इत्युक्तेऽस्तीति
गम्यते । न सत्तां पदार्थो व्यभिचरतीति । तथा नह्यसाधना
क्रियास्तीति । तथा च पचतीत्युक्ते सर्वकारकाणामाक्षेपो,
नियमार्थोऽनुवादः कर्तृकरणकर्मणां चैत्राग्नितण्डुलानामिति ।

दृष्टश्च वाक्यार्थे पदरचनं, श्रोत्रियश्छन्दोधीते, जीवति, प्राणा-न्धारयति। तत्र वाक्ये पदार्थाभिव्यक्तिस्ततः पदं प्रविभज्य व्याकरणीयं, क्रियावाचकं कारकवाचकं वा, अन्यथा भवत्यश्वो-ऽजापय इत्येवमादिषु नामाख्यातसारूप्यादनिर्ज्ञातं, कथं क्रि-यायां कारके वा व्याक्रियेतेति। तेषां शब्दार्थप्रत्ययानां प्रविभागः। तद् यथा श्वेतते प्रासाद इति क्रियार्थः, श्वेतः प्रासाद इति कारकार्थः शब्दः, क्रियाकारकात्मा तदर्थः। प्रत्ययश्च। कस्मात्। सोऽयमित्यभिसम्बन्धादेकाकार एव प्रत्ययः संकेत इति। यस्तु श्वेतोऽर्थः सशब्दप्रत्यययोरालम्बनीभूत, सहित्वाभिरवस्थाभिर्वि-क्रियमाणो न शब्द सहगतो न बुद्धिसहगतः। एवं शब्द, एवं प्रत्ययो, नेतरेतरसहगत इति। अन्यथार्थोऽन्यथाशब्द, एवं प्रत्ययो, नेतरेतरसहगत इति। अन्यथार्थोऽन्यथाशब्दोऽन्यथा प्रत्यय इति विभागः। एवं तत् प्रविभागसंयमात् योगिनः सर्वभूतरुतज्ञानं सम्पद्यते इति॥

अर्थ

वाणी वर्णों से अर्थवती होती है यानी उस की सफलता वर्णों से है। और कान वह है कि जिस का विषय केवल ध्वनिपरिणाम है। पुनः पद नाद का अनुसंहार अर्थात् समाप्ति है कि जिस का बुद्धि से ग्रहण होता है। वर्ण एक ही समय में नहीं बोले जासक्ते इस वजह से आपस में एक दूसरे का सहाय नहीं करते और पद को बिना संस्पर्श किये एक दूसरे के पीछे रहकर प्रगट और अप्रगट होते हैं जिस से हर एक अपदस्वरूप (अर्थात् जिन का पद स्वरूप नहीं है) कहा जाता है। तथापि एक २ वर्ण पदस्वरूप है और सर्वा-भिधानशक्ति (अर्थात् सब पदार्थों के नामज़द होने की सामर्थ्य का परचय कराने वाला है। सो वह अपने सहकारी दूसरे वर्ण के साथ मिलकर मानो वैश्वरूप्य अर्थात् नानात्व वा अनेक प्रकार का होना) को प्राप्त पहिला वर्ण बाद के वर्ण के साथ और बाद का वर्ण पहिले वर्ण के साथ विशेष अवस्था में अवस्थापित है। इस तरह पर बहुत से वर्ण क्रम को अनुरोध करने वाले अर्थ-संकेत से पृथक् होते हैं। अब इतने ये गकार, औकार और विसर्ग कि जो

सर्वाभिधानशक्ति से परिवृत हैं (अर्थात् जो चाहें जिस के बोधक होसक्ते हैं) सास्नादि युक्त अर्थ को ज़ाहर करते हैं और इन का कि जो अर्थ संकेत करके जुदे किये गये हैं और जिन को ध्वनि का क्रम समाप्त हो गया है जो एक बुद्धिनिर्भास है वह पद यानी वाच्य का बताने वाला संकेत किया गया है। सो यह एक पद कि जिस का बुद्धि विषय एक है और जो एक प्रयत्न से आच्छिप्त है, जिस का क्रम टूटा नहीं है, जो वर्ण नहीं है पर ज्ञान स्वरूप है और जिस के लिये अन्त्य वर्ण और प्रत्यय का व्यापार उपस्थापित है दूसरे को समझाने की इच्छा से कहे हुए वर्ण और सुनने वाले श्रोताओं करके अनादि वाणी व्यवहार की वासना से अनुविद्ध लोकबुद्धि द्वारा परम्परा व्यवहार से सिद्धवत् प्रतीत होता है। उस का संकेतबुद्धि से प्रविभाग होता है। यथा इतने वर्णों को इस प्रकार की समाप्ति किसो अर्थ का जताने वाला है इति। और संकेत तो पद और पद के अर्थ में से हरएक दूसरे का अध्यासरूप स्मृत्यात्मक है। जो यह शब्द है सो यह अर्थ है, जो यह अर्थ है सो यह शब्द है इस प्रकार का अध्यासरूप संकेत होता है। इस प्रकार ये अर्थात् शब्द, अर्थ और प्रत्यय यानी ज्ञान एक दूसरे के अध्यास से संकीर्ण अर्थात् संकुचित वा मिले हुए हैं। गौ यह शब्द है, गौ यह अर्थ है और गौ यह ज्ञान है इस प्रकार जो इन के प्रविभाग को जानता है वह सर्ववित् अर्थात् सब बातों का जानने वाला है। पुनः सब पदों में वाक्य शक्ति होती है। यथा वृक्ष कहने से वृक्ष है यह समझा जाता है। सत्ता को पद का अर्थ बिगाड़ता नहीं तैसे हो वग़ैर साधन के क्रिया भी नहीं होती मस्लन् पचति (अर्थात् पकाता है) के कहने से सब कारकों का आक्षेप होता है। परन्तु कर्ता करण और कर्म यानी चैत्र पुरुष, अग्नि और चांवल का कथन नियम के अर्थ होता है। सिवाय इस के वाक्यार्थ में पद की रचना भो देखो गई है यथा श्रोत्रिय छन्द अर्थात् वेद पढ़ता है, जीता है, प्राण को धारण करता है। पुनः वाक्य में पद के अर्थ की भी अभिव्यक्ति होती है। इस पद को विभक्त करके विचारना चाहिये कि वह क्रियावाचक है वा कारकवाचक नहीं तो भवति (कि जिस का अर्थ होता है और स्त्री का सम्बोधन भो है) अश्व (जिस का अर्थ घोड़ा और बैठो है) अजापय (जिस का अर्थ बकरी का दूध और नाश करो है) आदि शब्द नाम और आख्यात की सारूप्यता से यानी क्रियावाचक और कारक वाचक दोनों होने से समझ में न आवेंगे। अब कैसे क्रिया और कारक का ख़याल होवै? इस के उत्तर में श्री व्यासजी कहते हैं कि उन के शब्द अर्थ और अर्थज्ञान में भेद है। और वह इस प्रकार है मस्लन् श्वेतते प्रासादः अर्थात् महल सफ़ेदी करता है

तो यह क्रियार्थ है और श्वेतः प्रासादः (यानी सफ़ेद महल है) यह कारकार्थ शब्द है। उस का अर्थ क्रिया और कारकरूप है। और ज्ञान भी ऐसा ही है। क्यों ? क्योंकि वह यह है इस प्रकार के अभिसम्बन्ध से एकाकार ही ज्ञान का संकेत होता है। जो श्वेत अर्थ है वह शब्द और ज्ञान का आलम्बनीभूत और अपनी अवस्थाओं से विक्रियमाण, न शब्द का साथी है और न बुद्धि का। ऐसे ही शब्द भी दोनों (अर्थात् अर्थ और बुद्धि का साथी नहीं और ज्ञान अर्थ और शब्द का नहीं। खुलासा यह है कि शब्द, अर्थ और प्रत्यय में से कोई सा एक बाक़ी दोनों के सहगत नहीं। अर्थात् अर्थ जुदा है। शब्द जुदा है और प्रत्यय जुदा है। यह ही उन का प्रविभाग है। इस प्रकार तीनों के प्रविभाग के संयम करने से योगी को सब प्राणियों का रुत यानी भेद और उस का अर्थ ज्ञान होता है॥

सूत्र १८

संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्॥

अर्थ

संस्कार के साक्षात्कार करने से पूर्व जाति का ज्ञान होता है॥

भाष्य

द्वये खल्वमी संस्काराः, स्मृतिक्लेशहेतवो वासनारूपाः विपाकहेतवः धर्माधर्मरूपास्ते पूर्वभवाभिसंस्कृताः परिणाम-चेष्टानिरोधशक्तिजीवनधर्मवदपरिदृष्टा चित्तधर्मा तेषु संयमः संस्कारसाक्षात्क्रियायै समर्थः। न च देशकालनिमित्तानुभवैर्विना तेषामस्ति साक्षात्करणं। तदित्थं, संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानमुत्पद्यते योगिनः। परत्राप्येवमेव संस्कारसाक्षात् करणात् परजातिसम्वेदनम्। अत्रेदमाख्यानं श्रूयते। भगवतो जैगीषव्यस्यसंस्कारसाक्षात्करणाद्दशसु महासर्गेषु जन्मपरिणा-मक्रममनुपश्यतो विवेकजं ज्ञानं प्रादुरभवत्। अथ भगवाना-वट्यस्तनुधरस्तमुवाचदशसु महासर्गेषुभव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन त्वया नरकतिर्य्यग्गर्भसम्भवं दुःखं सम्पश्यता देवमनुष्येषु पुनः

पुनरुत्पद्यमानेन सुखदुःखयोः किमधिकमुपलब्धमिति, भगवन्त-मावट्यं जैगीषव्य उवाच। दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूत-बुद्धिसत्त्वेन मया नरकतिर्य्यग्भवं दुःखं सम्पश्यता देवमनुष्येषु पुनः पुनरुत्पद्यमानेन यत्किञ्चिदनुभूतं तत् सर्वं दुःखमेव प्रत्यवैमी। भगवानावट्य उवाच। यदिदमायुष्मन् प्रधानवशित्व-मनुत्तमञ्च सन्तोषसुखं किमिदमपि दुःखपक्षे निःक्षिप्तमिति। भगवान् जैगीषव्य उवाच। विषयसुखापेक्षयैवेदमनुत्तमं सन्तोष-सुखमुक्तं कैवल्यापेक्षया दुःखमेव। बुद्धिसत्त्वस्यायं धर्मस्त्रिगुणः त्रिगुणश्चप्रत्ययो हेयपक्षे न्यस्त इति। दुःखरूपतृष्णातन्तुस्तृष्णा-दुःखसन्तापापगमात् प्रसन्नमबाधं सर्वानुकूलं सुखमिदमुक्तमिति॥

अर्थ

ये संस्कार दो प्रकार के हैं एक तो स्मृति और क्लेश के कारण वासना-रूप हैं और दूसरे विपाक के कारण धर्म और अधर्मरूप हैं। वे पूर्वजन्म में निष्पादन किये हुए हैं और परिणाम, चेष्टा, निरोध, शक्ति, जीवन, धर्मों की नाईं अपरिदृष्ट अर्थात् अप्रत्यक्ष चित्त के धर्म हैं। तिन में संयम साक्षात्क्रिया के लिये समर्थ है अर्थात् तिन में संयम करने से साक्षात्कार होता है। परन्तु देश काल और निमित्त के अनुभव किये बिना उन का साक्षात्कार करना नहीं होता। सो इस प्रकार संस्कार का साक्षात्कार करने से योगी को पूर्व जाति का ज्ञान उत्पन्न होता है। दूसरों को जाति का ज्ञान भी ऐसे ही दूसरों के संस्कार के साक्षात्कार करने से होता है। इस विषय में एक आख्यान सुना जाता है कि भगवान जैगीषव्य को कि जो दस महासर्गों में जन्मपरिणाम के क्रम को देखते रहे संस्कार के साक्षात्कार करने से विवेकज (यानी विवेक से उत्पन्न) ज्ञान प्रकाशित हुआ। फिर भगवान आवट्य ने कि जिन्हों ने अपना शरीर निर्माण कर लिया था जैगीषव्य से पूछा कि आपने दस महासर्गों में जन्म लिये परन्तु आप का बुद्धिसत्व अभिभूत (अर्थात् दबा हुआ) नहीं हुआ। नरक और तिर्य्यक् के गर्भ के दुःख को देखा। देव और मनुष्य बार बार हुए। आपने कौन सा सुख अधिक पाया और कौनसा दुःख। इस के उत्तर में भगवान आवट्य से जैगीषव्य बोले कि मैंने दस महासर्गों में जन्म लिये परन्तु मेरा बुद्धिसत्व अभिभूत नहीं हुआ। मैंने नरक और तिर्य्यक् होने के दुःख देखे।

देव और मनुष्य बार बार हुआ। मुझ को जो कुछ अनुभव हुआ उस सब को मुझ को ऐसी ही याद है कि वह सब दुःख ही है। भगवान आवट्य ने फिर कहा कि चिरञ्जीवी क्या प्रधान का वशकरना और सन्तोषसुख भी दुःख में शामिल है। भगवान जैगीषव्य बोले कि विषयसुख की अपेक्षा ही से यह सन्तोषसुख अनुत्तम (अर्थात् जिस से कोई अन्य उत्तम न हो) कहा गया है परन्तु कैवल्य की अपेक्षा से दुःख ही है। यह बुद्धिसत्व का धर्म त्रिगुण (अर्थात् तीन गुण मय) है और त्रिगुण प्रत्यय त्याज्य है। दुःखरूप तृष्णातन्तु है। सो तृष्णारूपी दुःख के सन्ताप के दूर होजाने से प्रसन्न बाधारहित सब के अनुकूल सुख यह सन्तोष कहा गया है ॥

सूत्र १९

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥

अर्थ

अन्यदेहधारी के चित्त की वृत्ति के साक्षात्कार करने से उस के चित्त का ज्ञान होता है ॥

भाष्य

प्रत्यये संयमात् प्रत्ययस्य साक्षात्करणात्ततः परचित्तज्ञानं। न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्। रक्तं प्रत्ययं जानात्यमुष्मिन्नालम्बने रक्तमिति न जानाति। परप्रत्ययस्य यदालम्बनं तद् योगिचित्तेन नालम्बनीकृतं। परप्रत्ययमात्रन्तु योगिचित्तस्यालम्बनीभूतमिति ॥

अर्थ

प्रत्यय (अर्थात् वृत्ति) में संयम करने से अर्थात् प्रत्यय के साक्षात्कार करने से दूसरे के चित्त का ज्ञान होता है। परन्तु जो परचित्त का आलम्बन है वह उस का आलम्बन नहीं होता क्योंकि वह आलम्बन योगी के चित्त का विषय नहीं है। दूसरे का प्रत्यय रक्त अर्थात् लगा हुआ है यह योगी जान्ता है। परन्तु किस वस्तु में लगा है यह नहीं जान्ता। क्योंकि जो दूसरे के प्रत्यय का आलम्बन है उस का योगी के चित्त ने आलम्बन नहीं किया किन्तु दूसरे के चित्त का प्रत्ययमात्र योगी के चित्त का आलम्बनीभूत है ॥

सूत्र २०

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तरधानम् ॥

अर्थ

कायरूप के संयम से उस (अर्थात् रूप) की ग्राह्यशक्ति के रुकजाने पर और नेत्र व प्रकाश के संप्रयोग न होने पर अन्तर्धान होता है ॥

भाष्य

कायरूपे संयमाद्रूपस्य या ग्राह्यशक्तिस्तां प्रतिबध्नाति। ग्राह्यशक्तिस्तम्भे सति चक्षुः प्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानमुत्पद्यते योगिनः। एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमुक्तं वेदितव्यम् ॥

अर्थ

शरीर के रूप में संयम करने से रूप की जो ग्राह्यशक्ति है उस को योगी रोकता है। उस ग्राह्य शक्ति के रुक जाने पर नेत्र और प्रकाश का सम्प्रयोग नहीं होता। जब सम्प्रयोग नहीं होना तो योगी को अन्तर्धान उत्पन्न होता है। इस कथन से शब्दादि का भी अन्तर्धान कथित समझो ॥

सूत्र २१

सोपक्रमं निरुपक्रमञ्च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥

अर्थ

कर्म दो प्रकार के हैं एक सोपक्रम और दूसरे निरुपक्रम। उन दोनों के संयम अर्थात् साक्षात्कार से अथवा अरिष्ट अर्थात् मरणसूचक चिन्हों से मृत्यु का ज्ञान योगी को होता है ॥

भाष्य

आयुर्विपाकं कर्म द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं। तत्र यथार्द्रवस्त्रं वितानितं लघीयसा कालेन शुष्येत् तथा सोपक्रमं। यथा च

तद्देवमपिण्डितं चिरेण संशुष्येत्, एवं निरुपक्रमं। यथावाग्निः शुष्के कक्षे मुक्तो वातेन समंततो युक्तः क्षेपीयसा कालेन दहे-त्तथा सोपक्रमं। यथा वा स एवाग्निस्तृणराशौ क्रमशोवयवेषु न्यस्तश्चिरेण दहेत् तथा निरुपक्रमं। तदेकभविकमायुष्करं कर्म द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमञ्च, तत्संयमादपरान्तस्य, प्रायणस्य ज्ञानमरिष्टेभ्योवेति। त्रिविधमरिष्टमाध्यात्मिकमाधिभौतिक माधिदैवकञ्चेति। तत्राध्यात्मिकं घोषं स्वदेहे पिहितकर्णो न शृणोति, ज्योतिर्वानेत्रेऽवष्टब्धे न पश्यति। तथाधिभौतिकं यमपुरुषान् पश्यति, पितॄनतीतानकस्मात् पश्यति। आधिदै-विकं स्वर्गमकस्मात् सिद्धान् वा पश्यति, विपरीतं वा सर्वमिति। अनेन वा जानात्यपरान्तं मरणमुपस्थितमिति ॥

अर्थ

जिस कर्म का फल आयु है वह दो प्रकार का है एक सोपक्रम और दूसरा निरुपक्रम। इन में से सोपक्रम वैसा है जैसें गीला कपड़ा फैला हुआ थोड़े समय में सूखजाता है। और जैसें वह ही कपड़ा गुड़ोमुड़ी हो कर बहुत काल में सूखता है वैसा निरुपक्रम कर्म है। अथवा जैसें अग्नि सूखे हिस्से में डाली हुई और पवन से चारों ओर से युक्त थोड़े समय में जलादेती है वैसा तो सोपक्रम कर्म है और जैसें वह ही अग्नि घास के ढेर के छोटे २ भागों में नेक २ डाली जावै तो देर में जलाती है वैसा निरुपक्रम कर्म है। सो वह एक जन्म में हुआ और आयु के फल का देने वाला कर्म दो प्रकार का है सोपक्रम और निरुपक्रम। उस में संयम करने से अपरान्त यानी मृत्यु का ज्ञान होता है। जो अरिष्टों से भी होता है। अरिष्ट तीन प्रकार के हैं अर्थात् आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। इन में से आध्यात्मिक यह है कि अपने कानों के बन्द करने पर मरने वाले को अपनी देह पर की हुई आवाज़ सुनाई नहीं देती। आंख के मीचने पर ज्योति नहीं दिखलाई देती। आधिभौतिक यह है कि यमपुरुषों को देखता है अकस्मात् अपने मरे हुए पितरों को देखता है। और आधिदैविक यह है कि अकस्मात् स्वर्ग अथवा सिद्धों को देखता है। यह सब बिपरीत है। इस से योगी जानजाता है कि मरना निकट है ॥

सूत्र २२

मैत्र्यादिषु बलानि ॥

अर्थ

मित्रता आदि में संयम करने से तरह २ के बल प्राप्त होते हैं ॥

भाष्य

मैत्री करुणामुदितेति तिस्रोभावनास्तत्रभूतेषु सुखभूतेषु मैत्रीं भावयित्वा मैत्रीबलं लभते। दुःखितेषु करुणां भावयित्वा करुणाबलं लभते, पुण्यशीलेषु मुदितां भावयित्वा मुदिताबलं लभते। भावनातः समाधिर्यः स संयमस्ततो बलान्यवन्ध्यवीर्य्याणि जायन्ते पापशीलेषूपेक्षा न तु भावना। ततश्च तस्यां नास्ति समाधिरिति अतो न बलमुपेक्षातस्तत्रसंयमाभावादिति ॥

अर्थ

मैत्री, करुणा और मुदिता तीन भावना हैं। सो प्राणियों में जो सुखसम्पन्न हैं उन में मैत्री की भावना करने से मैत्री बल प्राप्त होता है। जो दुःखिया हैं उन में करुणा की भावना करने से करुणा बल प्राप्त होता है। और जो पुण्यात्मा हैं उन में प्रसन्नता की भावना करने से मुदिताबल प्राप्त होता है। भावना से जो समाधि होती है वह संयम है और उस से बल अर्थात् अप्रतिहत वीर्य्य उत्पन्न होते हैं। पापियों से उपेक्षा की जाती है इसलिये उन में भावना नहीं होती। और इसी वजह से उस में समाधि नहीं होती। और फिर उपेक्षा से उस में संयम न होने की वजह से कोई बल प्राप्त नहीं होता ॥

सूत्र २३

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥

अर्थ

भिन्न२ बलों में संयम करने से हाथी आदि का बल प्राप्त होता है ॥

भाष्य

हस्तिबले संयमाद्धस्तिबलो भवति। वैनतेयबले संयमाद्वैनतेयबलोभवति। वायुबले संयमाद्वायुबल इत्येवमादि ॥

अर्थ

हाथी के बल में संयम करने से हाथी के बल वाला हो जाता है। गरुड़ के बल में संयम करने से वैनतेय बल वाला हो जाता है। वायु के बल में संयम करने से वायुबल वाला हो जाता है आदि ॥

सूत्र २४

प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥

अर्थ

ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के आलोक के प्रक्षेप से सूक्ष्म (अर्थात् अलिंग तक का व्यवहित (अर्थात् व्यवधान यानी आड़ युक्त) और दूरस्थ वस्तुओं का ज्ञान होता है ॥

भाष्य

ज्योतिष्मती प्रवृत्तिरुक्ता मनसस्तस्यामालोकस्तं योगी सूक्ष्मे वा व्यवहिते वा विप्रकृष्टे वार्थे विन्यस्य तमर्थमधिगच्छति ॥

अर्थ

मन की ज्योतिष्मती प्रवृत्ति कह आये हैं। उस में जो आलोक अर्थात् प्रकाश होता है उस को योगी सूक्ष्म (अर्थात् अलिङ्ग अर्थान्त) अथवा व्यवधान यानी आड़युक्त, अथवा विप्रकृष्ट यानी दूरस्थ अर्थ में फेंक कर उस अर्थ को जान लेता है ॥

सूत्र २५

भुवनज्ञानं सूर्य्ये संयमात् ॥

अर्थ

सूर्य्य में संयम करने से भुवन अर्थात् ब्रह्माण्ड का ज्ञान होता है ॥

भाष्य

तत्प्रस्तारः सप्तलोकास्तत्रावीचेः प्रभृति मेरुपृष्ठं यावदित्येवं भूर्लोको मेरुपृष्ठादारभ्याध्रुवात् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्ष-लोकस्तत्परः स्वर्लोकः पँचविधो माहेन्द्रस्तृतीयलोकश्चतुर्थः प्राजापत्यो महर्लोकस्त्रिविधोब्राह्मः। तद् यथा—जनलोकस्तपो-

लोकः सत्यलोक इति । ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो-महान् । माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजा इति संग्रहश्लोकः । तत्रावीचेरुपर्युपरि निविष्टाः षरा महा-नरकभूमयो घनसलिलानलानिलाकाशतमः प्रतिष्ठः महाका-लाम्बरीषरौरवमहारौरवकालसूत्रान्धतामिस्राः यत्र स्वकर्मो-पार्जितदुःखवेदनाः प्राणिनः कष्टमायुर्दीर्घमाक्षिप्य जायन्ते। ततो महातलरसातलातलसुतलवितलतलातलपातालाख्यानि सप्त पातालानि । भूमिरियमष्टमी सप्तद्वीपा वसुमती यस्याः सुमेरुर्मध्ये पर्वतराजः काञ्चनः । तस्य राजतवैदूर्य्य स्फटिक-हेममणिमयानि शृङ्गानि । तत्र वैदूर्य्यप्रभानुरागात् नीलोत्प-लपत्रश्यामो नभसो दक्षिणभागः । श्वेतः पूर्वः स्वच्छः पश्चिमः, कुरण्टकाभ उत्तरः । दक्षिणपार्श्वे चास्य जम्बूर्यतोयं जम्बूद्वीपः। तस्य सूर्य्यप्रचाराद्रात्रिन्दिवं लग्नमिव विवर्तते । तस्य नीलश्वे-तशृङ्गवन्त उदीचीनास्त्रयः पर्वता द्विसहस्र यामास्तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि नव नव योजनसाहस्राणि रमणकं हिरण्मयमुत्तराः कुरव इति । निषिधहेमकूटहिमशैला दक्षिणतो द्विसहस्रया-मास्तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि नवनवयोजनसाहस्राणि हरिवर्षं किंपुरुषं भारतमिति । सुमेरोः प्राचीना भद्राश्वमाल्यवत्-सीमानः । प्रतीचीनाः केतुमालागन्धमादनसीमानो मध्ये वर्षमिलावृतम् । तदेतत् योजनशतसहस्रं सुमेरोर्दिशि दिशि तदर्द्धेन व्यूढं । स खल्वयं शतसहस्रयामो जम्बूद्वीपस्ततो द्विगु-णेन लवणोदधिना वलयाकृतिना वेष्टितः । ततश्च द्विगुणाः शाककुशक्रौञ्चशाल्मलगोमेधपुष्करद्वीपाः सप्तसमुद्राश्च सर्षपरा-शिकल्पाः सविचित्रशैलावतंसा इक्षुरससुरासर्पिर्दधिमण्डक्षीर-स्वादूदकसप्तसमुद्रवेष्टिता वलयाकृतयो लोकालोकपर्वतपरिवाराः

पँचाशद्योजनकोटीपरिसंख्यातास्तदेतत् सर्वं सुप्रतिष्ठितसंस्थानमण्डमध्ये व्यूढ़म्। अण्डँच प्रधानस्याणोरवयवो यथाकाशे खद्योत इति। तत्र पाताले जलधौ पर्वतेष्वेतेषु देवनिकायासुरगन्धर्वकिन्नरकिम्पुरुषयक्षराक्षसभूतप्रेतपिशाचापस्मारकाप्सरोब्रह्मराक्षसकुष्माण्डविनायकाः प्रतिवसन्ति। सर्वेषु द्वीपेषु पुण्यात्मानो देवमनुष्याः। सुमेरुस्त्रिदशानामुद्यानभूमिस्तत्र मिश्रवनं नन्दनं चैत्ररथं सुमानसमित्युद्यानानि। सुधर्मा देवसभा। सुदर्शनं पुरं। वैजयन्तः प्रासादः। ग्रहनक्षत्रतारकास्तु ध्रुवे निबद्धा वायुविक्षेपनियमेनोपलक्षितप्रचाराः सुमेरोरुपर्युपरि सन्निविष्टा विपरिवर्तन्ते। माहेन्द्रनिवासिनः षट् देवनिकाय।स्त्रिदशा अग्निष्वात्तायाम्यास्तुषिता अपरिनिर्मितवशवर्तिनः परनिर्मितवशवर्तिनश्चेति। सर्वे संकल्पसिद्धाः। अणिमाद्यैश्वर्य्योपपन्नाः कल्पायुषो वृन्दारकाः कामभोगिनः औपपादिकदेहाः उत्तमानुकूलाभिरप्सरोभिः कृतपरिवाराः। महति लोके प्राजापत्ये पँचविधादेवनिकायाः, कुमुदा ऋभव, प्रतर्दना अञ्जनाभाः प्रचिताभा इत्येते महाभूतवशिनो ध्यानाहाराः कल्पसहस्रायुषः। प्रथमे ब्रह्मणो जनलोके चतुर्विधो देवनिकायो ब्रह्मपुरोहिताः ब्रह्मकायिकाः ब्रह्ममहाकायिका अमरा इति। ते भूतेन्द्रियवशिनो द्विगुणद्विगुणोत्तरायुषो। द्वितीये तपसि लोके त्रिविधो देवनिकायः आभास्वरा महाभास्वरा सत्यमहाभास्वरा इति। ते भूतेन्द्रियप्रकृतिवशिनः द्विगुणद्विगुणोत्तरायुषः सर्वे ध्यानाहाराः ऊर्द्ध्वरेतस ऊर्द्ध्वमप्रतिहतज्ञानाः, अधरभूमिष्वनावृतज्ञानविषयाः। तृतीये ब्रह्मणः सत्यलोके चत्वारो देवनिकाया अच्युताः शुद्धनिवासाः सत्याभाः संज्ञासंज्ञिनश्चेति अकृतभुवनन्यासाः स्वप्रतिष्ठाः उपर्य्युपरिस्थिताः प्रधानवशिनो यावत्

सर्गायुष:। तत्राच्युता: सवितर्कध्यानसुखा:। शुद्धनिवासा: सविचारध्यानसुखा:। सत्याभा आनन्दमात्रध्यानसुखा:। संज्ञासंज्ञिनश्चास्मितामात्रध्यानसुखास्तेऽपि त्रैलोक्यमध्ये प्रतितिष्ठन्ति। तएते सप्त लोका: सर्वे एव ब्रह्मलोका:। विदेहप्रकृतिलयास्तु मोक्षपदे वर्तन्ते न लोकमध्येन्यस्ता इत्येतद् योगिना साक्षात्कर्तव्यं सूर्य्येद्वारे संयमं कृत्वा। ततोन्यत्रापि एवं तावदभ्यसेद् यावदिदं सर्वं दृष्टमिति॥

अर्थ

इस भुवन का प्रस्तार अर्थात् संक्षेप सात लोक हैं। इन में से अन्तिमा नरक से लेकर मेरुपृष्ठ तक भूलोक है। मेरुपृष्ठ से लेकर ध्रुव पर्यन्त अन्तरिक्ष लोक है कि जो ग्रहनक्षत्र और तारागणों से विचित्रत है। इस के परे स्वर्लोक है जो माहेन्द्र लोक भी कहलाता है और पांच प्रकार का है। यह तीसरा लोक है। चौथा लोक प्राजापत्य अथवा महर्लोक है। और बाक़ी के ब्राह्म लोक हैं और वे तीन प्रकार के हैं यथा जन लोक, तप लोक और सत्य लोक। इस विषय पर एक संग्रह श्लोक भी इस प्रकार है कि ब्राह्म तीन भूमि वाला लोक है तिस से उतर कर बड़ा भारी प्राजापत्य लोक है तिस के उपरान्त माहेन्द्र है और फिर स्वर्लोक है कि जिस में आकाश के तारे शामिल हैं और फिर यह भूमि है कि जिस पर यह प्रजा है। अब आवीचि (अर्थात् अन्तिमा नरक) से ऊपर २ स्थित परा महानरक भूमि हैं कि जिन में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश रूप, अन्धकार, प्रधान है और जो महाकाल, अम्बरीष, रौरव, महारौरव, काल सूत्र, और अन्धतामिस्र के नामों से प्रख्यात हैं। इन में प्राणी कि जिन को दुःखवेदना अपने कर्मों करके उपार्जित हुई है दीर्घ आयु को लेकर कष्ट के साथ उत्पन्न होते हैं। इन परा महा नरक भूमियों से बढ़ कर महातल, रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल और पाताल नामी सात पाताल हैं और आठवीं यह पृथ्वी है कि जिस में सात द्वीप हैं और जो अनेक प्रकार को द्रव्यों को धारण करती है। इस के मध्य में पर्वतों में शिरोमणि और सुवर्णमय सुमेरु पर्वत है जिस के राजत, वैदूर्य्य, स्फटिक और हेम मणि मय शिखर हैं। वैदूर्य्य की प्रभा से अनुरक्त होने की वजह से नील कमल के पत्र के समान श्याम आकाश का दक्षिण भाग है। पूर्व भाग सफ़ेद है। पश्चिम भाग स्वच्छ है। उत्तर भाग कुरण्टक (पीतपुष्प) की आभा के समान है। इस

सुमेरु के दच्छिण पार्श्व में जम्बू है जिस से यह जम्बू द्वीप कहलाता है। इस में रात्रि और दिवस सूर्य्य के प्रचार से लग्न की नाईं गुज़रते हैं। सुमेरु के उत्तर में नील और श्वेत शिखर वाले तीन पर्वत हैं जिन की ऊचाई दो हज़ार याम है। इन के बीच में तीन वर्ष (अर्थात् देश) हैं जो नौ हज़ार योजन विस्तार में हैं। इन के नाम रमणक, हिरण्मय, उत्तरा:कुरव हैं। सुमेरु के दच्छिण में निषिध, हेमकूट, और हिमशैल हैं जो दो हज़ार याम ऊचाई में हैं और जिन के बीच में तीन वर्ष हैं। ये तीनों वर्ष नौ नौ हज़ार योजन विस्तार में हैं और इन के नाम हरिवर्ष, किंपुरुष और भारत हैं। सुमेरु के पूर्व में भद्राश्व, माल्यवत् सिमानें हैं और पश्चिम में केतुमाला और गन्धमादन सिमानें हैं और इन के मध्य में इलावृत वर्ष है। यह कुल खण्ड एक लाख योजन विस्तार में है और सुमेरु के नीचे पचास २ हज़ार योजन तक फैला हुआ है। सो यह एक लाख योजन विस्तार वाला जम्बू द्वीप है जो दूने विस्तार वाले खारी समुद्र से बलय (अर्थात् कमान) की आकृति में घिरा हुआ है। जम्बू द्वीप से विस्तार में दूने शाक, कुश, क्रौञ्च, शाल्मल, गोमेध, और पुष्कर द्वीप हैं, और ऐसे ही सात सर्सों के ढेर के समान अर्थात् पीत समुद्र हैं। इन द्वीपों में विचित्र २ शैल हैं और ये सात समुद्रों से कि जिन के जल पृथक् २ वैसे ही हैं जैसे कि गन्ने का रस, शराब, घी, मथा हुआ दही, दूध और शुद्ध जल घिरे हुए हैं। इन में लोकालोक नाम पर्वत टेढ़े २ पचास कोटि योजन तक फैले हुए हैं। यह सब सुप्रतिष्ठित रचना अण्ड (अर्थात् ब्रह्माण्ड) के मध्य निर्माण की हुई है। और अण्ड प्रधान अर्थात् प्रकृति (यानी त्रिगुण जब साम्यावस्था में होते हैं) के अणु का एक जुज़ है जैसा कि आकाश में जुगनू। पाताल में जल में इन पर्वतों में देवताओं के समूह अर्थात् (१) असुर (२) गन्धर्व (३) किन्नर (४) किम्पुरुष (५) यच्च (६) राच्चस (७) भूत (८) प्रेत (९) पिशाच (१०) अपस्मारक (११) अप्सर (१२) ब्रह्मराच्चस और (१३) कुष्माण्डविनायक रहते हैं। परन्तु सब द्वीपों में पुण्यात्मा देव मनुष्य हैं। तेरहों देवताओं की सुमेरु उद्यान भूमि अर्थात् बगीचा है। सुमेरु पर चार उद्यान हैं एक मिश्रवन, दूसरा नन्दन तीसरा चैत्ररथ और चौथा सुमानस। देवताओं की सभा सुधर्मा है। उन के पुर का नाम सुदर्शन है और महल वैजयन्त है। ग्रहनच्त्र और तारागण ध्रुव से लगे हुए और जिन का प्रचार वायु की गति के नियम से जाना जाता है सुमेरु के ऊपर २ स्थित घूमा करते हैं। माहेन्द्र लोक के निवासी देवता छे प्रकार के हैं अर्थात् (१) त्रिदशा (२) अग्निष्वात्ता (३) याम्या (४) तुषिता (५) अपरिनिर्मितवशवर्ती और (६) परिनिर्मितवशवर्ती। ये सब

सङ्कल्पसिद्ध हैं, अर्थात् इन को सब विषय सङ्कल्पमात्र ही से प्राप्त होते हैं। जिस विषय का इन्होंने विचार किया और वह प्राप्त हुआ। ये अणिमादि ऐश्वर्य (जिस का ज़िकर अगाड़ी होगा) से सम्पन्न होते हैं। इन की उमर एक कल्प भर अर्थात् ब्रह्मा के एक दिन पर्य्यन्त है। ये पूज्य हैं और विषय प्रिय हैं। इन के शरीर औपपादिक हैं अर्थात् पिता के संयोग के बिना अकस्मात् इन के दिव्य शरीर उत्पन्न होते हैं। और उत्तम व अनुकूल अप्सराओं से इन के परिवार चलते हैं। महान लोक जो प्राजापत्य है उस में देवताओं की जातें पांच प्रकार की हैं अर्थात् (१) कुमुद (२) ऋभव (३) प्रतर्दना (४) अञ्जनाभा और (५) प्रचिताभा। ये बड़े भारी पञ्चभूतों के वश करने वाले हैं और इन का आहार ध्यान है। और उमर हज़ार कल्प है। तीन ब्रह्म लोकों में से पहिले जन लोक में देवता चार प्रकार के हैं अर्थात् (१) ब्रह्मपुरोहित (२) ब्रह्मकायिक (३) ब्रह्ममहाकायिक और (४) अमर। ये पञ्चभूत और इन्द्रियों को वश करने वाले हैं और इन में से बाद वाले की पहिले की उमर से दूनी २ है यथा ब्रह्मकायिक की ब्रह्मपुरोहित से दूनी उमर है और ब्रह्म महाकायिक की ब्रह्मकायिक से दूनी है और अमर की ब्रह्म महाकायिक से दूनी है। दूसरे ब्रह्म लोक अर्थात् तप लोक में देवता तीन प्रकार के रहते हैं अर्थात् (१) आभास्वरा (२) महाभास्वरा और (३) सत्यमहाभास्वरा। ये पञ्चभूत इन्द्रिय और प्रकृति के वश करने वाले हैं और बाद वाले की उमर पहिले की उमर से दूनी २ है। इन सब का ध्यान ही आहार है और ये ऊर्द्धरेता हैं व ऊपर अर्थात् सत्य लोक का ज्ञान इन का प्रतिहत नहीं है। अधर भूमियों में भी इन का ज्ञान आवृत नहीं है। तात्पर्य्य यह है कि आवीचि से लेकर तप लोक तक का इनको सूक्ष्म व्यवहित और विप्रकृष्ट सब ज्ञान रहता है। अब तीसरे ब्रह्मलोक अर्थात् सत्य लोक में चार प्रकार के देवता निवास करते हैं अर्थात् (१) अच्युत (२) शुद्ध निवास (३) सत्याभा और (४) संज्ञासंज्ञी। ब्रह्मा की आयु में ये भुवन का न्यास अर्थात् त्याग नहीं करते अर्थात् दैनिक प्रलय में ये नहीं आते। अपने शरीर में प्रतिष्ठित हैं अर्थात् इन का आधाररूप कुछ नहीं है। ऊपर २ स्थित हैं। प्रधान के वश करने हारे हैं। सर्ग पर्य्यन्त इन की आयु है। इन में से जो अच्युत हैं उन को सवितर्क ध्यान का सुख है जो शुद्धनिवास हैं उन को सविचार ध्यान का सुख है जो सत्याभा हैं उन को आनन्दमात्र ध्यान का सुख है और जो संज्ञासंज्ञी हैं वे अस्मितामात्र ध्यान के सुख भोगने वाले हैं। ये चारो भी त्रैलोक्य में स्थित हैं और ये सब सातो लोक ब्रह्म लोक ही हैं। विदेह और प्रकृतिलय पुरुष तो मोक्ष पद में वर्तमान हैं अर्थात् मुक्त

समझे जाते हैं। और लोक में नहीं हैं। यह सब योगी को सूर्यद्वार में संयम करके साक्षात् करना चाहिये। फिर अन्यत्र भी ऐसे ही अभ्यास करे जब तक कि यह सब दृष्टि गोचर न होजावे॥

सूत्र २६

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानं॥

अर्थ

चन्द्र में संयम करने से तारागणों की रचना का ज्ञान होता है॥

भाष्य

चन्द्रे संयमं कृत्वा ताराव्यूहं विजानीयात्॥

अर्थ

चन्द्र में संयम करके तारों की रचना को जाने॥

सूत्र २७

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्॥

अर्थ

ध्रुव तारा में संयम करने से तारागणों की गति का ज्ञान होता है॥

भाष्य

ततो ध्रुवे संयमं कृत्वा ताराणां गतिं जानीयात्। ऊर्द्ध-विमानेषु कृतसंयमस्तानि विजानीयात्॥

अर्थ

उस के (अर्थात् ताराव्यूहज्ञान) बाद ध्रुव में संयम करके तारों की चाल को जानें। ऊर्द्धविमानों में संयम करके संयमी उन को जान लेवे॥

सूत्र २८

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्॥

अर्थ

नाभिचक्र में संयम करने से शरीर की रचना का ज्ञान होता है

भाष्य

नाभिचक्रे संयमं कृत्वा कायव्यूहं विजानीयात्। वात पित्तश्लेष्माणस्त्रयो दोषाः सन्ति। धातवः सप्त, त्वग्लोहित-मांसस्नाय्वस्थिमज्जाशुक्राणि, पूर्वं पूर्वमेषाणां वाह्यमित्येव-विन्यासः॥

अर्थ

नाभिचक्र में संयम करके शरीर की रचना को जान लेवै। वात पित्त और कफ तीन दोष हैं और सात धातु हैं अर्थात् खाल, लोहू, मांस, स्नायु, हड्डी, मज्जा और शुक्र। इन में से जो पहिले २ हैं वे बाहर २ हैं। यह ही इन का विन्यास (अर्थात् स्थिति) है॥

सूत्र २९

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः॥

अर्थ

कण्ठकूप में संयम करने से भूख प्यास दूर हो जाती है॥

भाष्य

जिह्वाया अधस्तात् तन्तुस्तन्तोरधस्तात् कण्ठस्ततो धस्तात् कूपस्तत्र संयमात् क्षुत्पिपासे न बाधेते॥

अर्थ

जिह्वा के नीचे तन्तु है और तन्तु के नीचे कण्ठ है। कण्ठ के नीचे कूप है। वहां पर संयम करने से भूख और प्यास नहीं बाधा करतीं॥

सूत्र ३०

कूर्मनाड्यां स्थैर्य्यम्॥

अर्थ

कूर्माकार नाड़ी में संयम करने से स्थिरता होती है॥

भाष्य

कूपादध उरसि कूर्माकारा नाड़ी। तस्यां कृतसंयमः स्थिरपदं लभते यथा सर्पोगोधावेति॥

अर्थ

कूप के नीचे हृदय में कूर्म्माकार नाड़ी है। तिस में संयम करने वाला स्थिरपद को प्राप्त होता है जैसे सर्प की क़िस्म से गोह ॥

सूत्र ३१

मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्॥

अर्थ

मस्तक की ज्योति में संयम करने से सिद्ध पुरुषों के दर्शन होते हैं ॥

भाष्य

शिरः कपाले अन्तः छिद्रं प्रभास्वरं ज्योतिस्तत्र संयमात्सिद्धानां द्यावापृथिव्योरन्तरालचारिणां दर्शनं ॥

अर्थ

सिर की खोपड़ी में भीतर का छेद प्रभास्वर ज्योति है। उस में संयम करने से सिद्ध पुरुषों के कि जो आकाश और पृथ्वी के बीच भ्रमण करने हारे हैं दर्शन होते हैं ॥

सूत्र ३२

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥

अर्थ

प्रातिभज्ञान के उत्पन्न होने पर योगी सब जान लेता है ॥

भाष्य

प्रातिभं नाम तारकं। तद्विवेकजस्य ज्ञानस्य पूर्वरूपं। यथोदये प्रभा भास्करस्यैतेन वा सर्वमेव जानाति योगी प्रातिभस्य ज्ञानस्योत्पत्ताविति ॥

अर्थ

प्रातिभ नाम तारक अर्थात् विशेष ज्ञान का है और विवेक ज्ञान का पूर्वरूप है। जैसे उदय होने पर सूर्य्य की प्रभा होती है वैसे ही इस से योगी प्रातिभ ज्ञान उत्पन्न होने पर सब जान लेता है ॥

सूत्र ३३

हृदये चित्तसम्वित् ॥

अर्थ

हृदय में संयम करने से योगी चित्त को जान लेता है ॥

भाष्य

यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, तत्र विज्ञानं। तस्मिन् संयमात् चित्तसम्वित् ॥

अर्थ

जो इस ब्रह्मपुर अर्थात् देह में छोटासा कमल (कि जिस का मुख नीचे को है) रूपी घर है वही विज्ञान है। उस वेश्म में संयम करने से चित्त क्या वस्तु है इस बात का ज्ञान होता है ॥

सूत्र ३४

सत्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात् स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम् ॥

अर्थ

बुद्धिसत्व और पुरुष दोनों अत्यन्त असङ्कीर्ण अर्थात् पृथक २ हैं। इन दोनों की परार्थ से जो प्रत्ययसारूप्यता है वह भोग है। और स्वार्थ में संयम करने से पुरुष का ज्ञान होता है ॥

भाष्य

बुद्धिसत्वं प्रख्याशीलं समानसत्वोपनिबन्धने रजस्तमसी वशीकृत्य सत्वपुरुषान्यताप्रत्ययेन परिणतं। तस्माच्च सत्वात् परिणामिनोऽत्यंन्तविधर्मा शुद्धोन्यश्चितिमात्ररूपः पुरुषस्तयोर-त्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषे भोगः पुरुषस्य दर्शितविषयत्वात्। स भोगप्रत्ययः सत्वस्य परार्थत्वाद्दृश्यः। यस्तु तस्माद्विशिष्टश्चि-तिमात्ररूपोन्यः पौरुषेयप्रत्ययस्तत्र संयमात् पुरुषविषया प्रज्ञा

जायते। न च पुरुषप्रत्ययेन बुद्धिसत्वात्मना पुरुषो दृश्यते। पुरुष एव प्रत्ययं स्वात्मावलम्बनं पश्यति। तथा ह्युक्तं विज्ञातार-मरे केन विजानीयादिति ॥

अर्थ

प्रकाशशील बुद्धिसत्व रजोगुण और तमोगुण को कि जिन के समान सत्व ही नगीची कारण है वश में करके सत्व और पुरुष अन्य २ हैं इस प्रकार के प्रत्यय से परिणत अर्थात् व्याप्त होता है। और उस परिणामी सत्व से शुद्ध चितिमात्ररूप पुरुष अत्यन्त पृथक है। सो इन दोनों अत्यन्त असङ्कीर्णों (बिलगों) को प्रत्ययसारूप्यता भोग है क्योंकि पुरुष को विषय दिखाये जाते हैं। और सत्व का यह भोग प्रत्यय परार्थ होने की वजह से दृश्य है। अब इस से पृथक जो दूसरा चितिमात्ररूप है वह पुरुष सम्बन्धी प्रत्यय है। उस में संयम करने से पुरुष विषया प्रज्ञा उत्पन्न होती है। परन्तु बुद्धिसत्वरूप जो पुरुष प्रत्यय है उस से कुछ पुरुष नहीं देखा जाता बल्कि पुरुष ही अपने को आलम्बन करने हारे प्रत्यय को देखता है। और ऐसा ही ईश्वर ऋषी ने कहा भी है कि जो सब बात का जानने वाला है उस को किस के द्वारा जानें ॥

सूत्र ३५

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वाद-वार्त्ताजायन्ते ॥

अर्थ

तिस से (अर्थात् पुरुषज्ञान से) फिर प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद, वार्त्ता उत्पन्न होती हैं ॥

भाष्य

प्रातिभात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टातीतानागतज्ञानं। श्राव-णाद्दिव्यशब्दश्रवणम्। वेदनाद्दिव्यस्पर्शाधिगमः। आदर्शाद्दिव्य-रूपसम्वित्। आस्वादाद्दिव्यरससम्वित्। वार्तातो दिव्यगन्ध-विज्ञानमित्येतानि नित्यं जायन्ते ॥

अर्थ

प्रातिभ से सूक्ष्म व्यवहित और विप्रकृष्ट व अतीत और अनागत ज्ञान उत्पन्न होता है। श्रावण से दिव्य शब्द सुनाई देते हैं। वेदन से दिव्य स्पर्श का अधिगम होता है। आदर्श से दिव्य २ रूप दिखलाई देते हैं। आस्वाद से तरह २ के दिव्य रसों का स्वाद मिलता है। वार्ता से दिव्य २ गन्ध सूंघने में आती हैं। ये सब बातें रोज़ीना हमेशः उत्पन्न होती हैं॥

सूत्र ३६

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः॥

अर्थ

वे (अर्थात् पूर्व सूत्र में लिखी हुई बातें) समाधि में विघ्नरूप हैं और व्युत्थान में सिद्धियां हैं॥

भाष्य

ते प्रातिभादयः समाहितचित्तस्योत्पद्यमाना उपसर्गास्तद्दर्शनप्रत्यनीकत्वात्। व्युत्थितचित्तस्योत्पद्यमानाः सिद्धयः॥

अर्थ

वे प्रातिभादि जब समाहित चित्त वाले को उत्पन्न होते हैं तो विघ्न हैं क्योंकि वे दर्शन (अर्थात् विवेक ज्ञान) के विरुद्ध हैं। और व्युत्थित चित्त वाले को जब उत्पन्न होते हैं तो वे सिद्धियां हैं॥

सूत्र ३७

बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः॥

अर्थ

बन्ध कारण जो देह में अहं भाव है उस के शिथिल होने से और पर देह की नाड़ियों में अपने शरीर की नाईं अनुभव करने से चित्त का दूसरे के शरीर में आवेश होता है॥

भाष्य

लोलीभूतस्य मनसोऽप्रतिष्ठस्य शरीरे कर्माशयवशाद्बन्धः प्रतिष्ठेत्यर्थः। तस्य कर्मणो बन्धकारणस्य शैथिल्यं समाधि-

बलाद्भवति। प्रचारसम्वेदनञ्चचित्तस्य समाधिजमेव कर्म्म-बन्धक्षयात्। स्वचित्तस्य प्रचारसंवेदनाच्च योगी चित्तं स्वशरीरान्निष्क्रम्य शरीरान्तरेषु निक्षिपति, निक्षिप्तं चित्तञ्चेन्द्रियाण्य-नूपतन्ति। यथा मधुकरराजानं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति निविशमानमनुनिविशन्ते। तथेन्द्रियाणि परशरीरावेशे चित्त-मनुविधीयन्त इति॥

अर्थ

जो मन कहीं नहीं ठहरता और अतीव चंचल है उस का शरीर में कर्म्माशय के वश से बन्ध अर्थात् प्रतिष्ठा है। उस बन्ध के कारण कर्म की शिथिलता समाधिबल से होती है। और कर्म रूपी बन्ध के क्षय से चित्त का प्रचार सम्वेदन (अर्थात् पर देह की नाड़ियों में स्वशरीरवत् अनुभव) भी समाधि से ही होता है। अपने चित्त के प्रचार सम्वेदन से योगी चित्त को अपने शरीर से निकाल कर दूसरों के शरीरों में डाल लेता है। और डाले हुए चित्त के साथ इन्द्रियां लगजाती हैं। जैसे रानी मक्खी को उड़ता देख सब समूह की मक्खी उड़ने लगती हैं और जब वह बैठ जाती है तो वे भी बैठ जाती हैं ऐसे ही इन्द्रियां जब चित्त दूसरे के शरीर में आवेश कर जाता है तो उस से लगजाती हैं॥

सूत्र ३८

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च॥

अर्थ

उदान वायु के जीतने से जल, कीचड़ और कांटे आदि से असङ्ग होता है अर्थात् उन से योगी को रोक व बाधा नहीं होती और उत्क्रान्ति (अर्थात् स्वेच्छामृत्यु) भी होती है॥

भाष्य

समस्तेन्द्रियवृत्तिः प्राणादिलक्षणा जीवनं। तस्य क्रिया पञ्चतयी। प्राणो मुखनासिकागतिराहृदयवृत्तिः। समं नयनात् समानश्चानाभिवृत्तिः। अपनयनादपान आपादतलवृत्तिः।

उन्नयनादुदान आशिरोवृत्तिः । व्यापी व्यान इति । एषां प्रधानः प्राणः । उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्गः उत्क्रान्तिश्च प्रयाणकाले भवति । तां वशित्वेन प्रतिपद्यते ॥

अर्थ

समस्त इन्द्रियों की वृत्ति कि जिस का प्राण आदि लक्षण है जीवन है। उस की क्रिया पांच प्रकार की है। प्राण, मुख और नासिका की गति है और इस की वृत्ति (अर्थात् वर्तमानता) हृदय तक है। जो भिन्न २ स्थानों के अनुरूप रस को लेजाती है वह समान वायु है और उस की वर्तमानता नाभि तक है। जो मूत्रादि को अपनयन अर्थात् दूर करती है वह अपान वायु है और उस की वृत्ति पांउ के तले तक है। ऊर्द्ध लेजाने से उदान वायु कहलाती है और उस की वृत्ति सिर तक है। जो व्याप्त होवे वह व्यान वायु कहलाती है। इन में मुख्य प्राण है। उदान वायु के जीतने से जल, पङ्क और कांटे आदि बाधा नहीं करते और मरते समय उत्क्रान्ति भी होती है। उस को योगी वश करने से प्राप्त होता है॥

सूत्र ३९

समानजयाज्ज्वलनम् ॥

अर्थ

समान के जीतने से योगी जलने लगता है॥

भाष्य

जितसमानस्तेजस उपध्मानं कृत्वा ज्वलति ॥

अर्थ

जिस ने समान वायु जीत ली है वह तेज को ऊपर अर्थात् प्रगट करके देदीप्यमान होता है॥

सूत्र ४०

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ॥

अर्थ

कान और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से दिव्य श्रोत्र होते हैं॥

भाष्य

सर्वश्रोत्राणामाकाशं प्रतिष्ठा, सर्वशब्दानाञ्च । यथोक्तम् तुल्यदेशश्रवणानामेकदेशश्रुतित्वं सर्वेषां भवतीति । तच्चैतदाकाशस्य लिङ्गं अनावरणञ्चोक्तम् । तथाऽमूर्तस्यानावरणदर्शनाद्विभूत्वमपि प्रख्यातमाकाशस्य, शब्दग्रहणनिमित्तं श्रोत्रं, बधिराबधिरयोरेकः शब्दं गृह्णात्यपरो न गृह्णातीति । तस्मात् श्रोत्रमेव शब्दविषयं । श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धे कृतसंयमस्य योगिनो दिव्यं श्रोत्रं प्रवर्तते ॥

अर्थ

सब कान आकाश में स्थित हैं और ऐसे ही सब शब्द भी । ऐसा पञ्चशिख ने कहा भी है कि तुल्य देश वाले सब कानों को एक देश का श्रुतित्व होता है अर्थात् तुल्य देश में बहुत से मनुष्य हों और एक जगह शब्द हो तो सब को सुनाई देगा । यह आकाश का चिन्ह बिना रोक वाला कहा गया । तैसे ही जब आकाश का आवरण नहीं होता तो मूर्ति रहित आकाश का व्यापकत्व प्रसिद्ध है । कान सिर्फ़ शब्द के ग्रहण के अर्थ हैं । क्योंकि जो बहिरा है और जो बहिरा नहीं है इन दोनों में से एक तो शब्द को सुन लेता है और दूसरा नहीं सुन लेता है । तिस से कान भी शब्द विषय है । श्रोत्र और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने वाले योगी के दिव्य श्रोत्र होजाते हैं ॥

सूत्र ४१

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥

अर्थ

शरीर और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से और छोटे रुएं में संयम करने बाद उत्पन्न समापत्ति से आकाश में गमन होता है ॥

भाष्य

यत्र कायस्तत्राकाशं, तस्यावकाशदानात् । कायस्य तेन सम्बन्धप्राप्तिस्तत्रकृतसंयमो जित्वा तत् सम्बन्धं लघुषु वा

तूलादिष्वापरमाणुभ्यः समापत्तिं लब्ध्वा जितसम्बन्धो लघु भवति । लघुत्वाच्च जले पादाभ्यां विहरति, ततस्तूर्णनाभितन्तु-मात्रे विहृत्य रश्मिषु विहरति । ततो यथेष्टमाकाशगतिरस्य भवतीति ॥

अर्थ

जहां शरीर है वहां आकाश है क्योंकि आकाश शरीर को अवकाश देता है। अत: शरीर का आकाश के साथ सम्बन्ध है। उस में संयम करने वाला उस सम्बन्ध को जीत कर अथवा छोटे २ रूओं में परमाणु पर्य्यन्त समापत्ति हासिल करके जो सम्बन्ध जीत लेता है वह लघु होजाता है। लघु होने से जल पर पैरों से विहार करता है। फिर मकड़ी के जाले के तन्तु-मात्र पर विहार करके किरणों में विहार करता है। फिर इच्छानुसार उस की गति आकाश में होती है अर्थात् आकाश में चाहे जहां चला जाता है॥

सूत्र ४२

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः॥

अर्थ

शरीर से बाहर मन की अकल्पिता वृत्ति महाविदेहा कहलाती है। उस से प्रकाश के आवरण का क्षय होता है॥

भाष्य

शरीराद्बहिर्मनसो वृत्तिलाभो विदेहा नाम धारणा। सा यदि शरीरप्रतिष्ठस्य मनसो बहिर्वृत्तिमात्रेण भवति सा कल्पिते-त्युच्यते। या तु शरीर निरपेक्षा बहिर्भूतस्यैव मनसो बहिर्वृत्तिः सा खल्वकल्पिता। तत्र कल्पितया साधयन्त्यकल्पितां महा-विदेहामिति। यया परशरीराण्याविशन्ति योगिनः। ततश्च धारणातः प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्वस्य यदावरणं क्लेशकर्मविपाक-त्रयं रजस्तमोमूलं तस्य च क्षयो भवति ॥

अर्थ

शरीर से बाहर मन की वृत्तिलाभ विदेहा नाम धारणा है। सो यदि शरीर में स्थित मन की धारणा बाहर केवल वृत्तिमात्र से होती है तो वह कल्पिता कहलाती है और जो शरीर की बिना अपेक्षा बाहर निकले हुए मन की बाहर वृत्ति होती है वह अकल्पिता है। कल्पिता से अकल्पिता महाविदेहा धारणा का साधन किया जाता है। जिस से योगी औरों के शरीरों में प्रवेश कर जाते हैं। अपरञ्च उस धारणा से प्रकाशरूप बुद्धिसत्व का जो आवरण अर्थात् क्लेश कर्म और विपाक है कि जिन का मूल रजोगुण और तमोगुण हैं उस का भी क्षय होजाता है॥

सूत्र ४३

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्वसंयमाद्-
भूतजयः॥

अर्थ

स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्व में संयम करने से पञ्चभूत जीते जाते हैं अर्थात् जैसा सङ्कल्प किया जाय वैसी उन भूतों की स्थिति होजावे॥

भाष्य

तत्र पार्थिवाद्याः शब्दादयो विशेषाः सहाकारादिभिर्धर्मैः स्थूलशब्देन परिभाषिताः। एतद् भूतानां प्रथमं रूपं। द्वितीयं रूपं स्वसामान्यं मूर्तिर्भूमिः, स्नेहो जलं, वह्निरुष्णता, वायुः प्रणामी, सर्वतोगतिराकाशः इत्येतत् स्वरूपशब्देनोच्यते। अस्य सामान्यस्य शब्दादयो विशेषाः। तथाचोक्तं—एकजातिसमन्वितानामेषां धर्ममात्रव्यावृत्तिरिति सामान्यविशेषसमुदायोऽत्र द्रव्यं। द्विष्ठो हि समूहः प्रत्यस्तमितभेदावयवानुगतः, शरीरं वृक्षो यूथं वनमिति, शब्देनोपात्तभेदावयवानुगतः समूह, उभये देवमनुष्याः, समूहस्य देवा एको भागो मनुष्या द्वितीयो भागस्ताभ्यामेवा भिधीयते समूहः। स च भेद विवक्षित, आम्राणां वनं ब्राह्मणानां संघः, आम्रवनं, ब्राह्मणसंघ इति। स पुनर्द्विविधो युत-

सिद्धावयवोऽयुत सिद्धावयवश्च । युतसिद्धावयवः समूहो वनं संघ इति । अयुतसिद्धावयवः संघातः शरीरं वृक्षः परमाणुरिति । अयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समूहो द्रव्यमिति पतञ्जलिः । एतत् स्वरूपमित्युक्तं । अथ किमेषां सूक्ष्मरूपं । तन्मात्रं भूतकारणं । तस्यैकोवयवः परमाणु सामान्यविशेषात्मा अयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समुदाय इत्येवं सर्वतन्मात्राणि । एतत् तृतीयं । अथ भूतानां चतुर्थं रूपं । ख्यातिक्रियास्थितिशीला गुणाः कार्य्यस्वभावानुपातिनोन्वयशब्देनोक्ताः । अथैषां पञ्चमरूपमर्थवत्वं । भोगोपवर्गार्थता गुणेष्वन्वयिनी । गुणास्तन्मात्रभूतभौतिकेष्विति सर्वमर्थवत् । तेष्विदानीं भूतेषु पञ्चसु पञ्चरूपेषु संयमात्तस्य तस्य रूपस्य स्वरूपदर्शनं जयश्च प्रादुर्भवति । तत्र पञ्चभूतस्वरूपाणि जित्वा भूतजयी भवति । तज्जयाद्वत्सानुसारिण्य इव गावोऽस्य सङ्कल्पानुविधायिन्योभूतप्रकृतयो भवन्ति ॥

अर्थ

शब्द, स्पर्श रूप, रस, गन्ध जो पृथ्वी आदि पञ्च भूतों के गुण हैं (अर्थात् पृथ्वी के पाञ्चों, जल के गन्ध रहित चारो, तेज में गन्ध और रस को छोड़ कर बाकी के तीनों, वायु में गन्ध, रस और रूप वर्जित बाकी के दो, और आकाश में केवल एक अर्थात् शब्द) और जो विशेष कहलाते हैं आकार आदि धर्मों से युक्त स्थूल शब्द से परिभाषित किये गये हैं अर्थात् उन के लिये स्थूल शब्द सूत्रकार ने रक्खा है अथवा उन को स्थूल माना है। आकारादि धर्म इस प्रकार हैं:—

(१) पृथ्वी

आकारो गौरवं रौक्षं वरणं स्थैर्य्यमेवच वृत्तिभेदः क्षमा कार्ष्ण्यं काठिन्यं सर्व भोग्यता ॥

अर्थ

आकार भारीपन, रूखापन, रङ्ग, स्थिरता, वृत्तिभेद (भिन्न २ आकारों में आना) क्षमा (सहनशीलता) कार्ष्ण्य (भेदन अर्थात् टूटना) और सर्व भोग्यता (सब के भोग में आना) ॥

(२) जल

स्नेहः सौक्ष्म्यं प्रभा शौक्ल्यमार्दवं गौरवञ्च यत्। शैत्यं रक्षा पवित्रत्वं सन्धानं चोदकागुणाः॥

अर्थ

स्नेह (चिकनाई) सौक्ष्म्य, प्रभा (दीप्ति) शौक्ल्य (सफ़ेदी) मार्दव (गीलापन) गौरव (भारीपन) शैत्य (शीतता) रक्षा (पालन) पवित्रत्व (पवित्र करना) और सन्धान (सब को धारण करना यानी पोषण करना) जल के गुण हैं॥

(३) तेज

ऊर्द्ध्वभाक् पाचकं दग्धृ पावकं लघुभास्वरं। प्रध्वं स्योजस्वि वै तेजः पूर्वाभ्यां भिन्नलक्षणं॥

अर्थ

ऊर्द्ध्वभाक (ऊर्द्ध्व चलने वाला) पाचक (पकाने वाला) दग्ध करने वाला (यानी भस्म करने वाला) पावक (पवित्र करने वाला) लघु (हलका) भास्वर (दीप्तमान) प्रध्व (पोषक) स्योजस्वि (पराक्रमी) तेज है और इस के लक्षण पूर्व भूतों अर्थात् पृथ्वी और जल से पृथक् हैं॥

(४) वायु

तिर्य्यग्यानं पवित्रत्व माक्षेपोनोदनं बलं। चलमच्छायता रौक्ष्यं वायोः धर्माः पृथग्विधाः॥

अर्थ

टेढ़ा चालना, पवित्र करना, आक्षेप (फेंकना) नोदन (संयोग) बल चल (सतत चलने वाला) अच्छायता (छेदन करने वाला) और रौक्ष्य (रूखा) ये धर्म वायु के निराले हैं॥

(५) आकाश

सर्वतोगतिरव्यूहो विष्टम्भश्चेति च त्रयः। आकाशधर्मा व्याख्याता पूर्वधर्मविलक्षणाः॥

अर्थ

सर्वतोगति (सब जगह में प्राप्त होना) अव्यूह (आकार जिस का न होवे) विष्टम्भ (व्याप्त) ये तीन आकाश के गुण हैं जो पूर्व चार भूतों के गुणों से पृथक् हैं ॥

पूर्व कथित शब्दादि जो विशेष हैं वे भूतों का पहिला रूप है। और दूसरा रूप उन के सामान्य है यथा भूमि की मूर्ति अर्थात् सांसिद्धिक काठिन्यता, जल का स्नेह अर्थात् आर्द्रता, वन्हि की उष्णता, वायु का चलना और आकाश का सर्वतोगति। यह स्वरूप शब्द से कथन किया जाता है। इस सामान्य का शब्दादि विशेष हैं। और ऐसा हो कहा भी है कि एक २ जाति करके समन्वित (अर्थात् भूमि की काठिन्यता, जल की स्नेहता आदि) जो ये भूत हैं उन की धर्ममात्र से पृथक्ता है। इस प्रकार इस योग शास्त्र में सामान्य और विशेष के समुदाय को द्रव्य माना है। अब समूह दो प्रकार के होते हैं एक कि जो ऐसे अवयवों में अनुगत हैं जिन का भेद लुप्त होगया है जैसे शरीर, वृक्ष, यूथ, वन आदि और दूसरा वह कि जो ऐसे अवयवों में अनुगत है जिन का भेद शब्द करके प्राप्त है। यथा दोनों देव मनुष्य अर्थात् समूह का एक भाग देव हैं और दूसरा मनुष्य हैं और दोनों से वह समूह बोला जाता है। इस में भेद की विवक्षा है यथा आमों का बन, ब्राह्मणों का समूह और आम बन व ब्राह्मण समूह। यह दूसरा समूह फिर दो प्रकार का है एक युतसिद्धावयव और दूसरा अयुतसिद्धावयव। युतसिद्धावयव समूह बन संघ हैं। और अयुतसिद्धावयव समूह शरीर वृक्ष परमाणु हैं। अयुतसिद्धावयव भेद में अनुगत जो समूह है उस को पतञ्जलिजी ने द्रव्य माना है। इतना स्वरूप का व्याख्यान हुआ। अब इन का सूक्ष्म रूप क्या है। तन्मात्रा पञ्चभूतों का कारण है। उस का एक अवयव परमाणु सामान्य विशेष रूप अयुतसिद्धावयव भेद में अनुगत समूह है। ऐसे ही सब तन्मात्रा हैं। यह तीसरा रूप है। अब पञ्चभूतों का चौथा रूप यह है:—कि प्रकाश क्रिया और स्थिति स्वभाव वाले गुण हैं सो ये कार्य्य स्वभाव में अनुपतित हैं। यह अन्वय शब्द से व्याख्यात किया है। पञ्चभूतों का पांचवां रूप अर्थवत्व है। भोगार्थता और अपवर्गार्थता गुणों का अन्वय करने वाली हैं और गुण तन्मात्रा भूत और भौतिक पदार्थों में मौजूद हैं इसलिये सब अर्थवान हैं। अब अर्थात् भूत का स्वरूप ज्ञान होगया तब पांच रूप वाले पांचो भूतों में संयम करने से पृथक् २ रूप का स्वरूप दर्शन होता है और जय प्रादुर्भूत होती है। तब पांचो भूतों के स्वरूपों को जीत कर योगी भूतजयी

होजाता है और फिर इस जय से जैसे बछड़े के पीछे २ गाय जाती है उसी तरह पांचो भूत और प्रकृति उस योगी के सङ्कल्प के अनुरूप परिणाम को प्राप्त होने वाली होजाती हैं। यह सिद्धि मधुमती कहलाती है॥

सूत्र ४४

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्म्मा-ऽनभिघातश्च॥

अर्थ

तिस (अर्थात् भूतजय) से अणिमा (अर्थात् छोटे से छोटा होजाना) आदि सिद्धियां प्रादुर्भूत होती हैं और कायसम्पत (कि जिस का ज़िकर अगाड़ी सूत्र में होगा) होती है। पुनः पञ्चभूतों के धर्म योगी को रोक नहीं सक्ते॥

भाष्य

तत्राऽणिमा भवत्यणुः। लघिमा लघुर्भवति। महिमा महान् भवति। प्राप्तिरङ्गुल्यग्रेणापि स्पृशति चन्द्रमसं। प्राकाम्यमिच्छानभिघातः। भूमावुन्मज्जति निमज्जति यथोदके। वशित्वं, भूतभौतिकेषु वशी भवत्यवश्यश्चान्येषां। ईशितृत्वं तेषां प्रभवाप्ययव्यूहानामीष्टे। यत्रकामावसायित्वं, सत्यसङ्कल्पता, यथासङ्कल्पस्तथा भूतप्रकृतीनामवस्थानम्। न च शक्तोऽपि पदार्थविपर्य्यासं करोति। कस्मात्, अन्यस्य यत्रकामावसायिनः पूर्वसिद्धस्य तथाभूतेषु सङ्कल्पादिति। एतान्यष्टावैश्वर्य्याणि। कायसम्पद्वक्ष्यमाणा। तद्धर्मानभिघातश्च, पृथ्वीमूर्त्यान निरुणद्धि, योगिनः शरीरादिक्रिया शिलामप्यनुविशतीति। नापः स्निग्धाः क्लेदयन्ति, नाग्निरुष्णो दहति, न वायुः प्रणामी वहत्यनावरणात्मकेप्याकाशे भवत्यावृतकायः सिद्धानामप्यदृश्यो भवति॥

अर्थ

(१) अणिमा सिद्धि वह है कि जिस से योगी अणु (अर्थात् अत्यन्त छोटा) होजाता है। (२) लघिमा से लघु होता है (३) महिमा से बड़ा होजाता है

(४) प्राप्ति से अंगुली की नोक से भी चन्द्रमा को छू लेता है (५) प्राकाम्य से योगी की इच्छा का अनभिघात (अर्थात् प्रतिकूलता) नहीं होता। भूमि में भी मानिन्द जल के योगी डूबजाता है और उछल आता है। (६) वशित्व से पञ्चभूत और भौतिक पदार्थ का नियन्ता होता है और अन्य के वश में नहीं आता। (७) ईशितृत्व से पञ्चभूत और भौतिक पदार्थ के उत्पन्न, नाश और स्थिति के सम्पादन करने में समर्थ होता है। (८) यत्र कामावसायत्व (अर्थात् जहां कामना का अवसान होजाय) से सत्य सङ्कल्पता होती है अर्थात् जैसा सङ्कल्प होता है वैसा ही पञ्चभूत और प्रकृति का अवस्थान (अर्थात् स्थिति) होता है। परन्तु ऐसी योगी की शक्ति भी होजाने पर यह नहीं होता कि पदार्थों को उलटपुलट कर सके क्योंकि अन्य जो योगी पूर्व में यत्रकामावसायी होगया है उस का वैसा ही सङ्कल्प है। ये आठ ऐश्वर्य्य हैं। कायसम्पत् का अगाड़ी सूत्र में ज़िकर होगा। अब पञ्चभूतों के धर्म योगी को नहीं रोक सक्ते। पृथ्वी अपनी काठिन्यता से योगी को नहीं रोक सक्ती। योगी की शरीरादि क्रिया शिला में भी प्रवेश कर जाती है। स्निग्ध जल योगी को भिंगोता नहीं। अग्नि जलाती नहीं। वायु जो सदैव चलने वाली है चलाती नहीं। आकाश का आवरण नहीं होता परन्तु योगी अपने शरीर से आकाश को भी आवृत अर्थात् ढक वा रोक देता है और सिद्धों को भी नहीं दिखलाई देता॥

सूत्र ४५

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत्॥

अर्थ

रूप, लावण्य, बल, वज्रसंहनन कायसम्पत् में शामिल हैं॥

भाष्य

दर्शनीयः कान्तिमान् अतिशयबलः वज्रसंहननश्चेति॥

अर्थ

कायसम्पत् जब योगी को प्राप्त होजाती है तो वह रूपवान् अर्थात् दर्शनीय होजाता है। उस में लावण्यता आजाती है अर्थात् वह कान्तिमान् होजाता है। उस में बल आजाता है अर्थात् वह अतिशय बल वाला होजाता है। और उस की हड्डी वज्र के समान कड़ी होजाती है॥

सूत्र ४६

ग्रहणस्वरूपाऽस्मितान्वयार्थवत्वसंयमादि-न्द्रियजयः ॥

अर्थ

ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय, और अर्थवत्व में संयम करने से इन्द्रिय जीती जाती हैं ॥

भाष्य

सामान्यविशेषात्मा शब्दादिर्ग्राह्यः । तेष्विन्द्रियाणां वृत्ति-र्ग्रहणम् । न च तत् सामान्यमात्रग्रहणाकारं । कथमनालोचितः सविषयविशेष इन्द्रियेण मनसानुव्यवसीयतेति । स्वरूपं पुनः प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्वस्य सामान्यविशेषयोरयुतसिद्धावयवभेदा-नुगतः समूहो द्रव्यमिन्द्रियं । तेषां तृतीयं रूपं अस्मितालक्षणो-ऽहङ्कारः । तस्य सामान्यस्येन्द्रियाणि विशेषाः । चतुर्थं रूपं व्यव-सायात्मकाः प्रकाशक्रियास्थितिशीला गुणाः । येषामिन्द्रियाणि-साहङ्काराणि परिणामः । पञ्चमं रूपं गुणेषु यदनुगतं पुरुषार्थ-त्वमिति । पञ्चस्वेतेष्विन्द्रियरूपेषु यथाक्रमं संयमः । तत्र तत्र जयं कृत्वा । पञ्चरूपजयादिन्द्रियजयप्रादुर्भवति योगिनः ॥

अर्थ

सामान्य और विशेष रूप अर्थात् धर्मी और धर्म भाव में स्थित शब्दादि ग्राह्य (अर्थात् जिन का ग्रहण किया जावे) हैं । तिन में इन्द्रियों की वृत्ति ग्रहण है । और वह सामान्यमात्र ग्रहणाकार नहीं है क्योंकि यदि विशेष विषय युक्त पदार्थ का इन्द्रिय से आलोचन नहो तो मन से उस का कैसे निश्चय किया जावे । अब स्वरूप कहते हैं । प्रकाश रूप बुद्धिसत्व है उस के सामान्य और विशेष (अर्थात् अहङ्कार और इन्द्रिय) का अयुतसिद्धावयव भेदानुगत (अर्थात् जो युत सिद्ध अवयव रूप भेद के अनुगत नहीं है और युत सिद्ध अवयव वे पदार्थ हैं कि जिन के जुज़ युत अर्थात् मिले हुए सिद्ध हो हैं) समूह द्रव्य अर्थात् इन्द्रिय है । तीसरा रूप अहङ्कार है कि जिस का लक्षण अस्मिता है । उस

सामान्य अर्थात् अहङ्कार का इन्द्रियां विशेष हैं। चौथा रूप गुण हैं कि जिन का स्वभाव प्रकाश क्रिया और स्थिति है और जो निश्चय रूप हैं। इन का परिणाम अहङ्कार युक्त इन्द्रियां हैं। पांचवां रूप गुणों में अनुगत पुरुषार्थता है। इन पांचो इन्द्रिय रूपों में संयम करे और फिर जय हासिल करे। तब पांचो रूपों की जय से इन्द्रिय जय योगी को प्रादुर्भूत होती है॥

सूत्र ४७

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च॥

अर्थ

उस (अर्थात् इन्द्रियजय) से मनोजवित्व विकरणभाव और प्रधानजय होती है (इन का अर्थ भाष्य के अर्थ में देखो)॥

भाष्य

कायस्यानुत्तमो गतिलाभो मनोजवित्वं। विदेहानामिन्द्रियाणामभिप्रेतकालदेशविषयापेक्षो वृत्तिलाभो विकरणभावः। सर्वप्रकृतिविकारवशित्वं प्रधानजय इत्येतास्तिस्रः सिद्धयो मधुप्रतीका उच्यन्ते। एताश्च करणपञ्चकरूपजयादधिगम्यन्ते॥

अर्थ

शरीर का अनुत्तम गतिलाभ मनोजवित्व है। विदेह इन्द्रियों का चाहें जिस काल में चाहें जिस देश में चाहें जिस विषय में जो वृत्तिलाभ है उसे विकरणभाव कहते हैं। और सब प्रकृति के विकारों का वश में कर लेना प्रधानजय है। ये तीनों सिद्धियां मधुप्रतीका कहलाती हैं। और ये करणपञ्चक रूप जय से प्राप्त होती हैं॥

सूत्र ४८

सत्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वंसर्वज्ञातृत्वञ्च॥

अर्थ

सत्व (अर्थात् बुद्धिसत्व) पृथक् है और पुरुष अलग है। केवल इस प्रकार की ख्याति (अर्थात् विचार) वाला जो योगी है उस को सब भावों का अधिष्ठातापन और सर्वज्ञता प्राप्त होती है॥

भाष्य

निर्धूतरजस्तमोमलस्य बुद्धिसत्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्तमानस्य सत्वपुरुषान्यताख्यातिमात्ररूपप्रतिष्ठस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं। सर्वात्मनो गुणा व्यवसायव्यवसेयात्मकाः स्वामिनं क्षेत्रज्ञं प्रत्यशेषा दृश्यात्मत्वेनोपस्थिता इत्यर्थः। सर्वज्ञातृत्वं सर्वात्मनां गुणानां शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मत्वेन व्यवस्थितानामक्रमोपारूढविवेकजं ज्ञानमित्यर्थः। इत्येषा विशोका नाम सिद्धिः। यां प्राप्य योगी सर्वज्ञः क्षीणक्लेशबन्धनो वशी विहरति॥

अर्थ

जिस बुद्धिसत्व का रजोगुण, तमोगुण रूपी मल दूर होगया है और जो परम स्वच्छ होने के बाद परम वशीकारनामी वैराग्य में वर्तमान है और जो केवल सत्व और पुरुष की अन्यतामात्र ख्याति में प्रतिष्ठित है उस को सब भावों का अधिष्ठातापन प्राप्त होता है। सर्वरूप गुण कि जो व्यवसाय (अर्थात् निश्चय करने वाले) और व्यवसेय (अर्थात् जिस का निश्चय किया जाय) रूप हैं क्षेत्रज्ञ (क्षेत्र यानी गुणविक्रिया का द्रष्टा) स्वामी के प्रति दृश्यरूप से अशेष (विना बाक़ी) उपस्थित होते हैं। सर्वज्ञातृत्व यह है कि सर्व रूप गुणों का कि जो भूत वर्तमान और अनागत धर्म से व्यवस्थित हैं विवेकज ज्ञान एक दम होजाता है। यह विशोका नाम सिद्धि है। जिस को प्राप्त होकर सर्वज्ञ और वशी (अर्थात् वश में रखने वाला) योगी कि जिस के क्लेशरूपी बन्धन क्षीण होगये हैं विहार करता है॥

सूत्र ४९

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्॥

अर्थ

उस (अर्थात् विशोका सिद्धि) से भी जब वैराग्य होजाता है तो दोष बीज के नाश होजाने पर कैवल्य अर्थात् मोक्ष होती है॥

भाष्य

यदा त्वेवं भवति क्लेशकर्मक्षये सत्वस्यायं विवेकप्रत्ययो धर्मः। सत्वञ्च हेयपक्षे न्यस्तं। पुरुषश्चापरिणामी शुद्धोऽन्यः सत्वादित्येवमस्य ततो विरज्यमानस्य यानि क्लेशबीजानि दग्धशालिबीजकल्पान्यप्रसवसमर्थानि सह मनसा प्रत्यस्तं गच्छन्ति तेषु प्रलीनेषु पुरुषः पुनरिदं तापत्रयं न भुंक्ते। तदेतेषां गुणानां मनसि कर्मक्लेशविपाकस्वरूपेणाभिव्यक्तानां चरितार्थानां प्रतिप्रसवे पुरुषस्यात्यन्तिको गुणवियोगः कैवल्यं। तदा स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तिरेव पुरुष इति ॥

अर्थ

क्लेश और कर्म के क्षय होने पर जब ऐसा होता है तो सत्व का यह विवेक प्रत्यय धर्म है। सत्व हेय पक्ष में डाला गया है। और पुरुष परिणाम रहित शुद्ध सत्व से अलहदह है। इस प्रकार जब उस (अर्थात् सत्व) से भी विरक्त के जो क्लेशबीज हैं वे जले हुए चांवल के समान उगने में असमर्थ मन के साथ ही अस्त को प्राप्त होते हैं। उन के लीन होजाने पर पुरुष फिर इन तीन तापों को नहीं भोगता। सो जब इन गुणों का कि जो मन में कर्म क्लेश और विपाक रूप से अभिव्यक्त हैं जब चरितार्थ (अर्थात् काम तमाम होना) होकर प्रतिप्रसव (अर्थात् अपने कारण यानी प्रधान में लीन होना) होता है तो पुरुष का आत्यन्तिक गुणवियोग (अर्थात् वियोग हुए पर फिर वियोग ही रहै और उस का विपरीत नहो वह आत्यन्तिक वियोग है) होता है। वह कैवल्य है। और कैवल्य दशा में स्वरूप में प्रतिष्ठित चितिशक्ति ही पुरुष है॥

सूत्र ५०

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात् ॥

अर्थ

जब स्थानी अर्थात् इन्द्रादि देवता प्रार्थना करें तो संग और अभिमान नहीं करनी क्योंकि उस में फिर अनिष्ट का प्रसंग है॥

भाष्य

चत्वारः खल्वमी योगिनः। प्रथमकल्पिको मधुभूमिकः प्रज्ञाज्योतिरतिक्रान्तभावनीयश्चेति। तत्राभ्यासी प्रवृत्तमात्र-ज्योतिः प्रथमः। ऋतम्भरप्रज्ञो द्वितीयः। भूतेन्द्रियजयी तृतीयः। सर्वेषु भावितेषु भावनीयेषु कृतरक्षाबन्धः कृतकर्तव्यः साधना-दिमान चतुर्थस्त्वतिक्रान्तभावनीयः तस्य चित्तप्रतिसर्गएकोर्थः। सप्तविधा अस्य प्रान्तभूमि प्रज्ञा। तत्रमधुमतीं भूमिं साक्षात् कुर्वतो ब्राह्मणस्य स्थानिनो देवाः सत्वशुद्धिमनुपश्यन्तः स्थाने-रुपनिमंत्रयन्ते। भो इहास्यतां, इह रम्यतां, कमनीयोयं भोगः। कमनीयेयं कन्या, रसायनमिदं जरामृत्युं बाधते, वैहायसमिदं यानममी कल्पद्रुमाः, पुण्या मन्दाकिनी, सिद्धा महर्षय उत्तमा, अनुकूला अप्सरसो दिव्ये श्रोत्रचक्षुषी, वज्रोपमः कायः, स्वगुणैः सर्वमिदमुपार्जितमायुष्मता प्रतिपद्यतामिदमक्षय्यमजर ममर-स्थानं देवानां प्रियमित्येवमभिधीयमानः सङ्गदोषान् भावयेत्। घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया जननमरणान्धकारे विपरिवर्त्तमानेन कथञ्चिदासादितः क्लेशतिमिरविनाशी योग-प्रदीपस्तस्य चैते तृष्णायोनयोविषयवायवः प्रतिपक्षाः। स खल्वहं लब्धालोकः कथमनया विषयमृगतृष्णाया वञ्चितः तस्यैव पुनः प्रदीप्तस्य संसाराग्नेरात्मानमिन्धनी कुर्य्यामिति। स्वस्ति वः स्वप्नोपमेभ्यः कृपणजनप्रार्थनीयेभ्यो विषयेभ्य इत्येवं निश्चित-मतिः समाधिं भावयेत्। सङ्गमकृत्वास्मयमपि न कुर्यात्। एवमहं देवानामपि प्रार्थनीय इति। स्मयादयं सुस्थितं मन्य-तया मृत्युना केशेषु गृहीतमिवात्मानं न भावयिष्यति। तथा-चास्य छिद्रान्तरप्रेक्षी नित्यं यत्नोपचर्य्यः प्रमादो लब्धविवरः क्लेशानुत्तंभयिष्यति। ततः पुनरनिष्ट प्रसङ्गः। एवमस्य सङ्ग-

स्मयाकुर्वंतो भावितोर्थो दृढ़ी भविष्यति। भावनीयस्थार्थाभिमुखो भविष्यतीति ॥

अर्थ

ये योगी चार प्रकार के हैं अर्थात् (१) प्रथम कल्पिक (२) मधुभूमिक (३) प्रज्ञाज्योति और (४) अतिक्रान्त भावनीय। इन में से पहिले प्रकार का योगी अभ्यासी है और उस को ज्योति अर्थात् विवेक केवल प्रवृत्त हुआ है। दूसरे प्रकार का योगी वह है कि जिस की प्रज्ञा ऋतम्भरा (अर्थात् केवल सत्य को धारण करने हारी) है। तीसरे प्रकार का योगी पञ्चभूत और इन्द्रियों का जीतने वाला है। और चौथे प्रकार का यानी अतिक्रान्त भावनीय योगी वह है कि जिस ने निष्पादित (अर्थात् पर चित्त ज्ञानादि) और निष्पादनीय (अर्थात् विशोकादि परवैराग्य पर्य्यन्त) में रचावन्ध करलिया है, और जिस ने कर्तव्य (अर्थात् करने लायक) काम को कर लिया है और जो साधनादि (अर्थात् अष्टांग योग) से सम्पन्न है। इस का केवल यह ही अर्थ रहता है कि चित्त का प्रतिप्रसव होवै अर्थात् वह अपने कारण में लीन होवै। और इस की बुद्धि सात प्रकार की और प्रकृष्ट समाप्ति वाली होती है। इन सातों भूमियों में से जब ब्राह्मण मधुमती भूमि का साक्षात्कार करलेता है तो स्थानी देवता उस के सत्व की शुद्धि देख कर उस को अपने अपने स्थान से बुलाते हैं व प्रार्थना करते हैं कि आप यहां वैठिये, यहां रमण कीजिये, यह भोग बहुत सुन्दर है, यह कन्या कामना योग्य है, यह रसायन बुढ़ापा और मरण को दूर करती है। यह (अर्थात् सवारी) आकाश में चलता है, ये कल्प वृक्ष हैं, यह पुण्य मन्दाकिनी है, ये उत्तम २ सिद्ध महर्षि हैं, ये अप्सरा अनुकूल हैं, दिव्य कर्ण और नेत्र हैं, शरीर, बज्र के समान है। यह सब अपने गुण से प्राप्त है सो हे आयुष्मान आप इस अक्षय्य (अर्थात् जिस का क्षय नहो) और अमर (अर्थात् जिस का नाश नहो) देवताओं को प्रिय अमर स्थान को प्राप्त हो। इस प्रकार प्रार्थना किया गया योगी संग के दोषों की भावना करै। कि मैं घोर संसार रूपी अंगारों में भुंजता था और पैदा होना और मरने के अन्धकार में उलट पुलट होता था सो मुझ को किसी किसी प्रकार से क्लेश रूपी अन्धकार का नाश करने वाला योग प्रदीप प्राप्त हुआ है। उस के ये विषय रूपी पवनें कि जिन की तृष्णा मूल है प्रतिपक्ष अर्थात् शत्रु हैं। सो मैं कि जिस को आलोक अर्थात् प्रकाश की प्राप्ति होगई है। कैसे इस विषय रूपी मृग तृष्णा से ठगा कर फिर उस ही जलते हुए संसार रूपी अंगारों का ईंधन होऊं अर्थात्

अलूं। स्वप्न के सदृश विषयों को कि जिन की चाहना कृपण जन करते हैं नमस्कार है अर्थात् मुझ को उन से कुछ मतलब नहीं। इस प्रकार अपनी मति को निश्चित करके समाधि की भावना करे। अब संग को न करके स्मद अर्थात् ग़रूर भी न करे कि देखो मैं ऐसा हूं कि देवता भी मुझ से प्रार्थना करते हैं। क्योंकि स्मय को सुस्थित अर्थात् अच्छा समझने से योगी अपनी आत्मा की इस प्रकार भावना नहीं करेगा कि मेरे केशों को मृत्यु पकड़े हुए है अर्थात् मुझ को समय थोड़ा है कर्तव्य करलेना चाहिये। तैसे ही इस के छिद्रों को देखने वाला नित्य कोशिश करने वाला प्रमाद अवकाश पाकर क्लेशों को उत्तम्भित करेगा अर्थात् फिर कार्य्य के सन्मुख करेगा। तिस से फिर अनिष्ट का होना है। इस प्रकार संग और स्मय न करने वाले योगी का निष्पादित अर्थ दृढ़ होजाता है और निष्पादनीय अभिमुख होजाता है॥

सूत्र ५१

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्॥

अर्थ

क्षण और उन के क्रम में संयम करने से विवेकज (अर्थात् विवेक से उत्पन्न) ज्ञान प्राप्त होता है॥

भाष्य

यथापकर्षपर्य्यन्तं द्रव्यं परमाणुरेवं परमापकर्षपर्य्यन्तः कालः क्षणः। यावता वा समयेन चलितः परमाणुः पूर्वदेशं जह्या-दुत्तरदेशमुपसम्पद्येत स कालः क्षणः। तत्प्रवाहाविच्छेदस्तु क्रमः। क्षणतत्क्रमयोर्नास्ति वस्तुसमाहार इति। बुद्धिसमा-हारो मुहूर्ताहोरात्रादयः। स खल्वयं कालो वस्तुशून्यो, बुद्धि-निर्माणः, शब्दज्ञानानुपाती, लौकिकानां व्युत्थितदर्शनानां वस्तुस्वरूप इवावभासते। क्षणस्तु वस्तुपतितः क्रमावलम्बी। क्रमश्च क्षणानन्तर्य्यात्मा, तं कालविदः काल इत्याचक्षते योगि-नः। न च द्वौ क्षणौ सहभवतः, क्रमश्च न, द्वयोः सहभुवोर-सम्भावात्। पूर्वस्मादुत्तरस्यभाविनोयदानन्तर्य्यं क्षणस्य स क्रमस्त-स्माद्वर्तमान एकैकः क्षणो न पूर्वोत्तरे क्षणाः सन्तीति। तस्मा-

न्नास्ति तत्समाहारः। ये तु भूतभाविनः क्षणास्ते परिणामान्विता व्याख्येयास्तेनैकेन क्षणेन कृत्स्नो लोकः परिणाममनुभवति। तत्क्षणोपारूढाः खल्वमी धर्मास्तयोः क्षणतत्क्रमयोः संयमात्तयोः साक्षात्करणं ततश्च विवेकजं ज्ञानं प्रादुर्भवति। तस्य विषयविशेष उपक्षिप्यते॥

अर्थ

जैसे छोटे से छोटा द्रव्य परमाणु है वैसे ही छोटे से छोटा काल क्षण है। जिस समय में परमाणु अपने पहिले स्थान से चल कर दूसरे स्थान पर पहुंचता है वह समय क्षण है। और उन क्षणों को बिना टूटा हुआ प्रवाह क्रम है। क्षण और उन के क्रम का कोई वस्तु समूह नहीं है परन्तु मुहूर्त, दिन, रात्रि आदि बुद्धि समाहार हैं। यह काल वस्तु रहित बुद्धि निर्मित और केवल शब्द ज्ञान में अनुपतित है और लोगों को कि जो आत्म ज्ञान से व्युत्थित हैं वस्तु स्वरूप सा भान होता है। क्षण तो वस्तुओं में पतित हैं और क्रम का अवलम्बन करने हारे हैं और क्रम क्षणों का आनन्तर्य्य रूप है। उस को काल के जानने वाले योगी काल कहते हैं। दो क्षण एक साथ नहीं होते और क्रम भी नहीं होता क्योंकि दोनों का एक साथ होना असम्भव है। पहिले से होने वाले बाद के क्षण का जो आनन्तर्य्य (अर्थात् लगातार होना) वह क्रम है। अतः वर्तमान एक एक क्षण है और पहिला और बाद का क्षण वर्तमान नहीं है। और इसी वजह से उन का वस्तु समाहार नहीं है। जो क्षण गुजर गये और जो होने वाले हैं वे वस्तु के परिणाम के साथ अन्वित कहना चाहिये। तो उस एक क्षण में कुल लोक परिणाम को प्राप्त होता है और उस क्षण पर उपारूढ़ ये सब धर्म हैं। अब क्षण और उन के क्रम में संयम करने से उन दोनों का साक्षात्कार होजाता है। फिर उस से विवेकज ज्ञान प्रगट होता है। उस का विशेष विषय अगाड़ी धरा जाता है॥

सूत्र ५२

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः॥

अर्थ

जब तुल्य पदार्थों की पृथक्ता का निश्चय जाति लक्षण और देश से नहीं होता तो विवेक ज्ञान से निश्चय होता है॥

भाष्य

तुल्ययोर्देशलक्षणसारूप्ये जातिभेदोऽन्यतायां हेतुर्गौरियं बड़बेयमिति। तुल्यदेशजातीयत्वे लक्षणमन्यत्वकरं कालाक्षी गौः स्वस्तिमती गौरिति। द्वयोरामलकयोर्जातिलक्षणसारूप्याद्देश-भेदोऽन्यत्वकरः। इदं पूर्वमिदमुत्तरमिति। यदा तु पूर्वमामलक-मन्यव्यग्रस्य ज्ञातुरुत्तरदेश उपावर्तते तदा तुल्यदेशत्वे पूर्वमेत-दुत्तरमेतदिति प्रविभागानुपपत्तिः। असंदिग्धेन च तत्वज्ञानेन भवितव्यमित्यत इदमुक्तं ततः प्रतिपत्तिः विवेकजज्ञानादिति। कथं ? पूर्वामलकसहक्षणो देश उत्तरामलकसहक्षणदेशाद्भिन्नस्ते चामलके स्वदेशक्षणानुभवभिन्ने अन्यदेशक्षणानुभवस्तु तयोर-न्यत्वे हेतुरिति। एतेन दृष्टान्तेन परमाणोस्तुल्यजातिलक्षण-देशस्य पूर्वपरमाणुदेशसहक्षणसाक्षात्करणात् उत्तरस्य परमा-णोस्तद्देशानुपपत्तौ उत्तरस्य तद्देशानुभवो भिन्नः। सहलक्षण-भेदात्तयोरीश्वरस्य योगिनः अन्यत्वप्रत्ययो भवति इति। अपरे तु वर्णयन्ति येऽन्त्या विशेषास्तेऽन्यताप्रत्ययं कुर्वन्तीति। तत्रापि देशलक्षणभेदो मूर्त्तिव्यवधिजातिभेदश्चान्यत्वहेतुः। क्षणभेदस्तु योगिबुद्धिगम्य एवेति। अत उक्तं—मूर्त्तिव्यवधिजातिभेदाभा-वान्नास्ति मूलपृथक्त्वमिति वार्षगण्यः॥

अर्थ

जब तुल्य वस्तुओं का देश और लक्षण (अर्थात् वर्ण) एकसा होता है तो उन की अन्यता में जाति भेद कारण होता है। यथा यह गौ है यह घोड़ी है। जब तुल्य देश और जाति होती है तो लक्षण पृथक्ता का हेतु है यथा काली आंख वाली गौ और स्वस्तिमती गौ। दो आवलों की जब जाति और लक्षण एकसा है तो देश भेद से वे पृथक् होते हैं। यथा यह आवला पहिला है और यह पिछला है। जब जानने वाले का चित्त किसी अन्य वस्तु में लगा हो और पहिला आवला कि जिस की जाति और लक्षण मिलती हो उत्तर देश में

रख दिया जावे तो एक ही स्थान पर होने से यह आवला पहिला और यह पिछला है यह भेद ज्ञान नहीं होता। परन्तु सन्देह रहित तत्व ज्ञान से यह भी मालूम होसक्ता है। इसलिये यह कहा गया है कि ततः प्रतिपत्तिः अर्थात् विवेकज ज्ञान से निश्चय होता है। सो किस तरह से? इस तरह से कि पहिले आवले का जिन क्षणों के साथ देश था वह उत्तर आवले के सहक्षण (क्षणों सहित) देश से भिन्न है और जब वे आवले अपने २ देश क्षणों के अनुभव में भिन्न हैं तो अन्य देश क्षण का अनुभव उन को पृथक करने वाला है। इस दृष्टान्त के अनुसार अर्थात् ऐसे ही जिन दो परमाणुओं की जाति लक्षण और देश तुल्य है उन में से पहिले परमाणु का क्षण युक्त देश साक्षात्कार करने से उत्तर परमाणु में उस देश की उपपत्ति न होने से उत्तर परमाणु का जो उस देश का अनुभव है वह भिन्न है। सहलक्षण (अर्थात् क्षण युक्त) भेद से उन दोनों परमाणुओं का अन्यत्व प्रत्यय ईश्वर (अर्थात् सामर्थ्यमान वा सिद्धि सम्पन्न) योगी को होता है। और बुद्धिमान तो ऐसा कहते हैं कि जो अन्त्य अर्थात् अखीरी विशेष हैं वे अन्यता प्रत्यय (अर्थात् अन्यता का खयाल) पैदा करते हैं। उस में भी देश और लक्षण भेद व मूर्ति व्यवधान और जाति भेद अन्यत्व का हेतु है। क्षण भेद तो योगी की बुद्धि से ही समझ में आता है। अतः वार्षगण्य ने कहा है कि मूर्ति व्यवधान और जाति के भेद का अभाव होता है तो उस से कुछ मूल में पृथक्ता नहीं होती॥

सूत्र ५२

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमंश्चेति विवेकजं ज्ञानम्॥

अर्थ

तारक सर्वविषय सर्वथाविषयी और क्रम रहित विवेकज ज्ञान है॥

भाष्य

तारकमिति, स्वप्रतिभोत्थमनौपदेशिकमित्यर्थः। सर्वविषयं, नास्य किञ्चिदविषयीभूतमित्यर्थः। सर्वथाविषयमतीतानागत-प्रत्युत्पन्नं सर्वपर्यायैः, सर्वथा जानातीत्यर्थः। अक्रममित्येक क्षणोपारूढं सर्वं सर्वथा गृह्णात्यर्थः। एतद्विवेकजं ज्ञानं परि-

पूर्णमस्यैवांशो योगप्रदीपो मधुमतीं भूमिमुपादाय यावदस्य परिसमाप्तिरिति ॥ प्राप्तविवेकज्ञानस्याप्राप्तविवेकज्ञानस्य वा:—

अर्थ

तारक (अर्थात् जो संसार सागर से तारे) का अर्थ अपनी प्रतिभा से उत्पन्न है। तात्पर्य्य यह है कि तारक (विवेकज ज्ञान) किसी के उपदेश से उत्पन्न नहीं होता। सर्वविषय का अर्थ यह है कि इस (अर्थात् विवेकज ज्ञान) का कुछ भी अविषयी भूत नहीं अर्थात् इस की सब विषयों में प्रवृत्ति है। सर्वथा विषय से युगपद अतीत अनागत और प्रत्युत्पन्न को सब प्रकार से (विवेकज ज्ञान वाला) जानता है। अक्रम अर्थात् एक ही चण में सब को सब तरह से जान लेता है। खुलासा यह है कि विवेकज ज्ञान ऐसा होता है कि कोई चीज़ कहीं किसी तरह पर कभी अगोचर नहीं रहती। ऐसा विवेकज ज्ञान परिपूर्ण है। जिस का एक अंश योगरूपी प्रदीप है जो मधुमती भूमि को हासिल करके तब तक है जब तक कि उस को परिसमाप्ति न होजाय। जिस को विवेकज ज्ञान प्राप्त होगया है वा नहीं हुआ है उसे (अगाड़ी के सूत्र का अर्थ जोड़ो)॥

सूत्र ५४

सत्वपुरुषयो शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्॥

अर्थ

बुद्धि सत्व और पुरुष की शुद्धि की समानता होने पर मोक्ष होती है॥

भाष्य

यदा निर्द्धूतरजस्तमोमलं बुद्धिसत्वं पुरुषस्यान्यता प्रत्यय-मात्राधिकारं दग्धक्लेशबीजं भवति तदा पुरुषस्य शुद्धिसारूप्य-मिवापन्नं भवति। तदा पुरुषस्योपचरित भोगाभावः शुद्धिः। एतस्यामवस्थायां कैवल्यं भवति। ईश्वरस्यानीश्वरस्य वा, विवेकजज्ञानभागिन इतरस्य वा, नहि दग्धक्लेशबीजस्य ज्ञाने पुन-रपेक्षा काचिदस्ति। सत्वशुद्धिद्वारेण एतत्समाधिजमैश्वर्य्यञ्च ज्ञानं चोपक्रान्तं। परमार्थतस्तु ज्ञानाददर्शनं निवर्तते। तस्मि-न्निवृत्ते न सन्त्युत्तरे क्लेशाः। क्लेशाभावात् कर्मविपाकाभावश्च-

रिताधिकारास्तैतस्यामवस्थायां गुणा न पुरुषस्य पुनर्दृश्यत्वेन उपतिष्ठन्ते। तत् पुरुषस्य कैवल्यं। तदा पुरुषः स्वरूपमात्र-ज्योतिरमलः कैवली भवति ॥

अर्थ

जब बुद्धिसत्व कि जिस का रजोगुण तमोगुण रूपी मल धुद गया है और जिस का सत्व और पुरुष की अन्यतामात्र अधिकार है जले हुए बीज के समान होता है तो वह पुरुष की शुद्धिसारूप्यता को प्राप्त सा होजाता है और तब पुरुष की आरोपितभोगों का अभावरूप शुद्धि होती है। ऐसी अवस्था में मुक्ति होती है। चाहे योगी सिद्धिसम्पन्न हो वा जिस ने सिद्धियों का सम्पादन नहीं किया हो अथवा कोई अन्य विवेकजज्ञान का भागी हो उस का जब क्लेश का बीज दग्ध होगया तो फिर उस के ज्ञान में किसी की अपेक्षा नहीं होती है। सत्वशुद्धि के ज़रिये से इस समाधिज (अर्थात् समाधि से उत्पन्न) ऐश्वर्य और ज्ञान (अर्थात् विवेकज) का आरम्भ किया था परन्तु परमार्थ रीति से देखो तो ज्ञान (अर्थात् सम्यक् ज्ञान) से अदर्शन (अर्थात् अज्ञान) की निवृत्ति होती है। अज्ञान के निवृत्त होने पर उत्तर (अर्थात् बाद के चार यानी अस्मिता, राग, द्वेष, और अभिनिवेश) क्लेश नहीं होते। क्लेशों के अभाव से कर्म के विपाक (अर्थात् फल) का अभाव होता है और इस अवस्था में गुण चरिता-धिकार (अर्थात् जिन का अधिकार समाप्त होगया) होजाते हैं और फिर पुरुष के लिये दृश्यत्व भाव से नहीं वर्तमान होते हैं। वह पुरुष का कैवल्य है और तब पुरुष स्वरूपमात्र मल रहित ज्योति और कैवली (अर्थात् स्वरूपप्रतिष्ठित) होता है ॥

इति पातञ्जल योगदर्शन तृतीय पाद सम्पूर्णम् ॥

अथ पातञ्जलयोगदर्शनं चतुर्थः पादः प्रारम्भः॥

कैवल्य पादः॥

सूत्र १

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजा सिद्धयः॥

अर्थ

जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि से उत्पन्न सिद्धियां हैं॥

भाष्य

देहान्तरिता जन्मना सिद्धिः। औषधिभिरसुरभवनेषु रसायनेनेत्येवमादि। मन्त्रैराकाशगमनाणिमादिलाभः। तपसा सङ्कल्पसिद्धिः कामरूपी यत्र तत्र कामग इत्येवमादि। समाधिजाः सिद्धयो व्याख्याताः॥

अर्थ

जन्म से सिद्धि दूसरी उत्तम देह की प्राप्ति है यथा किसी ने अच्छे कर्म किये और उन के सबब से देवतादि की देह मिल गई। यह केवल जन्म मात्र से सिद्धि है। औषधि से सिद्धि यह होती है कि कोई वैद्य असुर के घर पहुंच गया और वहां किसी बीमार को रसायन से अर्थात् रस आदि देकर आराम किया। मन्त्र से सिद्धि यह है कि आकाश में गमन करना और अणिमा आदि सिद्धियों की प्राप्ति। तप से सङ्कल्प सिद्धि होती है और वह काम रूपी है अर्थात् इच्छा मात्र चाहें जहां पहुंच जाना, सुन लेना, देखलेना आदि। और समाधि से उत्पन्न सिद्धियों का ज़िकर हो ही चुका है। ये पांच प्रकार की सिद्धियां हैं॥

सूत्र २

तत्र कायेन्द्रियाणामन्यजातीयपरिणतानाम् जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात॥

अर्थ

उन में से शरीर और इन्द्रियों का कि जो अन्य जाति में परिणाम को प्राप्त होने वाली हैं प्रकृति के पूर्ति तक अनु प्रवेश से जात्यन्तर परिणाम होता है॥

भाष्य

पूर्वपरिणामापाये उत्तरपरिणामोपजनस्तेषा मपूर्वावयवानुप्रवेशाद् भवति। कायेन्द्रियप्रकृतयश्च स्वं विकारमनुगृह्णन्ति आपूरेण धर्मादिनिमित्तमपेक्षमाणा इति ॥

अर्थ

पहिलें परिणाम (अर्थात् देह) के नष्ट होने पर उत्तर (अर्थात् बाद के) परिणाम की उत्पत्ति उन के (अर्थात् काय और इन्द्रिय) अपूर्व (अर्थात् जो पहिले नथे) अवयवों के अनु प्रवेश से होती है। और काय इन्द्रिय और प्रकृति अपने विकार को पूर्ति पर्य्यन्त ग्रहण करती हैं परन्तु उस में धर्मादि निमित्त की अपेक्षा रहती है ॥

सूत्र ३

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥

अर्थ

निमित्त (अर्थात् धर्मादि कि जिन का ज़िकर ऊपर के सूत्र की भाष्य में हुआ है) प्रकृतियों का प्रवर्तक नहीं है और उस से आवरण वैसे ही दूर होजाता है जैसे किसान अपने खेत में आवरण दूर करता है ॥

भाष्य

नहि धर्मादिनिमित्तं प्रयोजकं प्रकृतीनां भवति। न कार्य्येण कारणं प्रवर्त्यत इति। कथं तर्हि? वरणभेदस्तु ततः, क्षेत्रिकवत्। यथा क्षेत्रिकः केदारादपां पूर्णात् केदारान्तरं पिप्लावयिषुः समं निम्नं निम्नतरं वानापः पाणिनापकर्षत्या वरणं त्वासां भिनत्ति, तस्मिन् भिन्ने स्वयमेव आपः केदारान्तरमाप्लावयन्ति, तथा धर्मः प्रकृतीनामावरणमधर्मं भिनत्ति। तस्मिन् भिन्ने स्वयमेव प्रकृतयः स्वं स्वं विकारमाप्लावयन्ति। यथा वा स एव क्षेत्रिकस्तस्मिन्नेव केदारे न प्रभवत्यौदकान्

भौमान् वा रसान् धान्यमूलान्यनुप्रवेशयितुं। किन्तर्हि? मुद्गवेधुकश्यामाकादींस्ततोपकर्षत्यपकृष्टेषु तेषु स्वयमेव रसा धान्यमूलान्यनुप्रविशन्ति। तथा धर्मो निवृत्तिमात्रे कारणमधर्मस्य शुद्ध्यशुद्ध्योरत्यन्तविरोधात्। न तु प्रकृतिप्रवृत्तौ धर्मोहेतुर्भवतीति। अत्र नन्दीश्वरादय उदाहार्य्याः। विपर्य्ययेणाप्यधर्मो धर्मं बाधते। ततश्चाशुद्धिपरिणाम इति। तत्रापि नहुषाजगरादय उदाहार्य्याः। यदा तु योगी बहून् कायान्निर्मिमीते तदा किमेकमनस्कास्ते भवन्त्यथानेकमनस्का इति॥

अर्थ

धर्मादि निमित्त प्रकृतियों का प्रयोजक अर्थात् प्रवर्तक नहीं होता है क्योंकि कार्य्य से कारण की प्रवृत्ति नहीं होती। तो किस तरह? निमित्त से प्रतिबन्धक का भेद होता है अर्थात् वह दूर होजाता है। किसान की नाईं। जैसे किसान जब पानी से भरी हुई एक क्यारी से दूसरी क्यारी को भरना चाहता है तो हाथ से पानी को बराबर वा नीचा ऊंचा नहीं करता बल्कि उस की रोक को दूर कर देता है और उस रोक के दूर होते ही पानी दूसरी क्यारी को भर देता है वैसे ही धर्म प्रकृतियों के आवरण (अर्थात् रोक) अधर्म को दूर कर देता है और उस अधर्म के दूर होने पर प्रकृतियां अपने अपने विकार को भर देती हैं। और तरह से भी देखो कि वह ही किसान उस ही क्यारी में नाज की जड़ों में जल और भूमि सम्बन्धी रसों का प्रवेश नहीं कर सक्ता है। अच्छा तो क्या करता है? वह मुद्ग, वेधुक, श्यामाक आदि घासों को धान्य की जड़ों से दूर कर देता है और उन के दूर होने पर रस अपने आप धान्य की मूलों में प्रवेश होजाते हैं। तैसे ही धर्म अधर्म के केवल निवृत्त करने में हेतु है क्योंकि शुद्धि और अशुद्धि आपस में अत्यन्त विरोधी हैं। परन्तु प्रकृति की प्रवृत्ति में धर्म हेतु नहीं होता है। इस का उदाहरण नन्दी ब्राह्मण है कि जो ईश्वर हो गया आदि। पूर्वोक्त के विपरीत अधर्म भी धर्म को बाधा करता है और फिर उस से अशुद्धि परिणाम होता है। इस का उदाहरण नहुष है कि जो इन्द्र था और अजगर हो गया आदि। अब जब योगी बहुत से शरीर निर्माण कर लेता है तो वे सब एक मन वाले होते हैं वा अनेक मन वाले?

सूत्र ४

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥

अर्थ

निर्माण चित्त केवल अस्मिता मात्र से होजाते हैं ॥

भाष्य

अस्मितामात्रं चित्तकारणमुपादाय निर्माणचित्तानि करोति । ततः सचित्तानि भवन्ति ॥

अर्थ

अस्मिता मात्र चित्त के कारण को ग्रहण करके निर्माण चित्त योगी कर लेता है और फिर उस से बहुत से शरीर जो वह निर्माण करता है चित्त युक्त होजाते हैं ॥

सूत्र ५

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषां ॥

अर्थ

भिन्न २ प्रवृत्तियों में अनेक चित्तों का प्रयोजक वा प्रवर्तक एक ही चित्त है ॥

भाष्य

बहूनां चित्तानां कथमेकचित्ताभिप्रायपुरः सरा प्रवृत्ति-रिति । सर्वचित्तानां प्रयोजकं चित्तमेकं निर्मिमीते । ततः प्रवृत्तिभेदः ॥

अर्थ

बहुत से चित्तों की एक चित्त के अभिप्राय के अनुसार कैसे प्रवृत्ति होती है ? इस तरह से कि सब चित्तों का प्रयोजक एक ही चित्त को योगी निर्माण करता है और उस ही से प्रवृत्ति में भिन्नता होजाती है ॥

सूत्र ६

तत्र ध्यानजमनाशयं ॥

अर्थ

उन (अर्थात् पांच प्रकार के) चित्तों में ध्यान से उत्पन्न यानी परवैराग्य युक्त चित्त आशय रहित होता है ॥

भाष्य

पञ्चविधं निर्माणचित्तं। जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धय इति। तत्र यदेव ध्यानजं चित्तं तदेवानाशयं। तस्यैव नास्त्याशयो रागादि प्रवृत्ति र्नातः पुण्यपापाभिसम्बन्धः क्षीण-क्लेशत्वात् योगिनः इति। इतरेषान्तु विद्यते कर्माशयो यतः॥

अर्थ

पांच प्रकार के निर्माण चित्त हैं जैसा कि पहिले कह आये हैं कि जन्मौषधि मन्त्र तपः समाधिजाः सिद्धय इति। इन में से जो ध्यानज चित्त है वह ही आशय रहित है। उस ही में आशय अर्थात् रागादि की प्रवृत्ति नहीं होती है और इसी से पुण्य और पाप से सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि योगी के क्लेश क्षीण होजाते हैं। और बाक़ी के अर्थात् जन्मौषधि मन्त्र तप वाले चित्तों का तो कर्माशय विद्यमान रहता है क्योंकि (अगाड़ी सूत्र को लगाओ)॥

सूत्र ७

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्॥

अर्थ

योगी का कर्म अशुक्ल और अकृष्ण होता है और औरों का तीन प्रकार का॥

भाष्य

चतुष्पात् खल्वियं कर्मजातिः। कृष्णा, शुक्ल कृष्णा, शुक्ला, अशुक्लाऽकृष्णाचेति। तत्र कृष्णा दुरात्मनां। शुक्लकृष्णा बहिः-साधनसाध्या, तत्र परपीड़ानुग्रहद्वारेण कर्माशय प्रचयः। शुक्ला तपः स्वाध्यायध्यानवतां, सा हि केवले मनसि आयत्तत्वाद्-बहिः साधनाधीना न परान् पीड़यित्वा भवति। अशुक्ला अकृष्णा सन्यासिनां क्षीणक्लेशानां चरमदेहानामिति। तत्रा-शुक्लं योगिन एव फलसन्यासादकृष्णं चानुपादानात्। इतरेषान्तु भूतानां पूर्वमेव त्रिविधमिति॥

अर्थ

यह कर्म जाति चार पैर वाली है अर्थात् कर्म चार प्रकार के हैं। एक तो कृष्ण, दूसरे शुक्ल कृष्ण तीसरे शुक्ल और चौथे अशुक्ल अकृष्ण। इन में से कृष्ण कर्म दुष्टों के होते हैं और दूसरे प्रकार के कर्म अर्थात् शुक्ल कृष्ण बाहर के साधनों से साध्य हैं। उन में दूसरों को पीड़ा पहुंचा कर व उन पर दया करके कर्माशय की वृद्धि होती है। शुक्ल कर्म तप, स्वाध्याय और ध्यान करने वालों के होते हैं। वह केवल मन में स्थित होने की वजह से बाहर के साधनों से साध्य नहीं हैं इसलिये उन में दूसरों को पीड़ा नहीं पहुंचाई जाती। अशुक्ल अकृष्ण सन्यासियों के होते हैं कि जिन के क्लेश क्षीण हो गये हैं और जिन के शरीर केवल अन्तिम हैं। इस का सबब यह है कि योगियों के फल त्याग से उन के कर्म अशुक्ल हैं और सम्पादन न करने से अकृष्ण हैं। बाक़ी के मनुष्यों के तीन प्रकार के हैं॥

सूत्र ८

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्ति-र्वासनानाम्॥

अर्थ

तिन (अर्थात् तीनों प्रकार के कर्मों) से उन के अनुरूप वासनाओं की अभिव्यक्ति होती है॥

भाष्य

तत इति त्रिविधात् कर्मणः। तद्विपाकानुगुणानामेवेति। यज्जातीयस्य कर्मणो यो विपाकस्तस्यानुगुणा या वासनाः कर्म-विपाकमनुशेरते, तासामेवाभिव्यक्तिर्न हि दैवं कर्म विपच्यमानं नारकतिर्य्यङ्मनुष्यवासनाभिव्यक्तिनिमित्तं भवति। किन्तु दैवानुगुणा एवास्य वासना व्यज्यन्ते। नारकतिर्य्यङ्मनुष्येषु चैवं समानश्चर्चः॥

अर्थ

तिन अर्थात् तीनों प्रकार के कर्मों से। उन के विपाक के अनुरूप अर्थात् जिस जाति के कर्म का जो विकाप है, उस के अनुरूप जो वासना कर्म के फल का अनुकार करती हैं उन्हीं वासनाओं को अभिव्यक्ति होती है। क्योंकि जब

देव कर्म विपाक को प्राप्त होता है तो वह नारक, तिर्य्यक् मनुष्य सम्बन्धी वासना की अभिव्यक्ति का कारण नहीं होता। किन्तु देव कर्म के अनुरूप ही उस की वासना प्रगट होती हैं। ऐसा ही हाल नारक तिर्य्यक् और मनुष्यों का है॥

सूत्र ९

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्य्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्॥

अर्थ

वे वासना चाहें जाति देश और काल से व्यवहित हों परन्तु उन का, स्मृति और संस्कार के एक रूप होने की वजह से, आनन्तर्य्य है॥

भाष्य

वृषदंशविपाकोदयः स्वव्यञ्जकाञ्जनाभिव्यक्तिः। स यदि जातिशतेन वा दूरदेशतया वा कल्पशतेन वा व्यवहितः पुनश्च स्वव्यञ्जकाञ्जन एवोदियात् द्रागित्येवं, पूर्वानुभूतवृषदंशविपाकाभिसंस्कृता वासना उपादाय व्यज्येत। कस्मात्? यतो व्यवहितानामप्यासां सदृशं कर्माभिव्यञ्जकं निमित्तीभूतमित्यानन्तर्य्यमेव। कुतश्च? स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्। यथानुभवास्तथासंस्काराः। ते च कर्मवासनारूपाः। यथा च वासनास्तथा स्मृतिरिति। जातिदेशकालव्यवहितेभ्यः संस्कारेभ्यः स्मृतिः। स्मृतेश्च पुनः संस्कारा इत्येते स्मृतिसंस्काराः कर्माशय वृत्तिलाभवशाद्व्यज्यन्ते। अतश्च व्यवहितानामपि निमित्तनैमित्तिकभावानुच्छेदादानन्तर्य्यमेव सिद्धमिति॥

अर्थ

विडाल रूपी विपाक का उदय उस के प्रगट करने वाले संस्कार के अनुरूप है। सो वह चाहें सौ जाति से वा दूर देशता से अथवा सौ कल्प से व्यवहित हो तौ भी अपने को प्रगट करने वाले संस्कार के अनुरूप झटित ही उदय होता है। और पूर्व अनुभूत विडाल रूपी विपाक से अभि संस्कृत वास-

नाओं को लेकर प्रगट होता है। क्यों ? क्योंकि यद्यपि वासना व्यवहित हो अर्थात् एक प्रकार की वासनाओं के बीच में अन्य प्रकार की वासना आजावें तथापि इन के सदृश कर्म का अभिव्यञ्जक कारण होजाता है और इस तरह से उन (वासनाओं) का आनन्तर्य्य है। सो क्यों ? क्योंकि स्मृति और संस्कार का एक रूप है। जैसे अनुभव होते हैं वैसे ही संस्कार पड़ते हैं। और वे संस्कार कर्म वासना रूप हैं। पुनः जैसी वासना होती हैं वैसी स्मृति होती है। अब जाति देश और काल से व्यवहित संस्कारों से स्मृति होती है और स्मृति से फिर संस्कार। इस प्रकार से स्मृति और संस्कार कर्माशय वृत्ति के लाभ के वश से प्रगट होते हैं। इसलिये व्यवहित वासनाओं का भी निमित्त (अर्थात् कारण) और नैमित्तिक (अर्थात् कार्य्य) भाव के उच्छेद (अर्थात् नाश) न होने से आनन्तर्य्य ही सिद्ध है॥

सूत्र १०

तासामनादित्वञ्चाशिषो नित्यत्वात्॥

अर्थ

उन वासनाओं को अनादित्व है अर्थात् वे वासना अनादि काल से हैं क्योंकि आत्मा को अपना आशीः (अर्थात् शुभचिन्तन) नित्य होता है॥

भाष्य

तासां वासनानामाशिषो नित्यत्वादनादित्वं। येयमात्माशीर्मानभूवं भूयासमिति सर्वस्य दृश्यते सा न स्वाभाविकी। कस्मात् जातमात्रस्याननुभूतमरणधर्मकस्य द्वेषदुःखानुस्मृतिनिमित्तो मरणत्रासः कथं भवेत्। न च स्वाभाविकं वस्तुनिमित्तमुपादत्ते। तस्मादनादिवासनानुविद्धमिदं चित्तं निमित्तवशात् काश्चिदेव वासनाः प्रतिलभ्य पुरुषस्य भोगायोपवर्त्तते इति। घटप्रासादप्रदीपकल्पं सङ्कोचविकाशि चि शरीरपरिमाणाकारमात्रमित्यपरे प्रतिपन्नास्तथा चान्तराभावः संसारश्च युक्त इति। वृत्तिरेवास्य विभुनः सङ्कोचविकाशिनीत्याचार्य्यः। तच्च धर्मादि निमित्तापेक्षं। निमित्तञ्च द्विविधं, बाह्यमाध्यात्मिकञ्च,

शरीरादिसाधनापेक्षं बाह्यं, स्तुतिदानाभिवादनादिचित्तमात्रा-धीनं श्रद्धाद्याध्यात्मिकं। तथा चोक्तं। ये चैते मैत्र्यादयो ध्यायिनां विहारास्ते बाह्यसाधननिरनुग्रहात्मानः प्रकृष्टं धर्ममभिनिर्वर्त्त-यन्ति। तयोर्मानसं बलीयः। कथं? ज्ञानवैराग्ये केनातिशय्येते। दण्डकारण्यं च चित्तबलव्यतिरेकेण कः शारीरेण कर्मणा शून्यं कर्तुमुत्सहेत, समुद्रमगस्त्यवद्वा पिबेत्॥

अर्थ

ये वासना अनन्त ही नहीं हैं किन्तु अनादि भी हैं क्योंकि आत्माशी (अर्थात् आत्मा का शुभचिन्तन) हमेशः होता है। और यह आत्माशी कि मैं नष्ट न होऊं और हमेशः होया करूं सब में दिखलाई देती है वह स्वाभाविक नहीं है। क्यों नहीं है? क्योंकि जो उत्पन्न ही हुआ है और जिस ने मरना जाना भी नहीं उस को मरने का भय जिस का कारण द्वेष और दुःख का अनुस्मरण है कैसे होगी है। और स्वाभाविक वस्तु का कारण नहीं होता। इस से अनादि वासनाओं से अनविद्ध यह चित्त कारण के वश से किसी वासनाओं को लेकर पुरुष के भोग लिये वर्तमान होता है। वाजे यह कहते हैं कि घड़ा और महल में रक्खे हुए दीपक के सदृश सङ्कोच और विकाश को प्राप्त चित्त शरीर के परिमाण के मवाफ़िक़ है। और तैसे ही अन्तर (अर्थात् पूर्व शरीर से वियोग) का अभाव और इसी वजह से संसार का होना भी दुरुस्त है। परन्तु आचार्य्य स्वयम्भू का सिद्धान्त यह है कि इस व्यापक चित्त की वृत्ति सङ्कोच और विकाश को प्राप्त होने वाली है। और उस में भी धर्मादि निमित्त की अपेक्षा है। निमित्त दो प्रकार के हैं एक तो बाह्य और दूसरे अध्यात्मिक। जिन में शरीरादि साधन की अपेक्षा होती है वे तो बाह्य हैं। और जो स्तुति दान अभिवादन आदि चित्तमात्र के आधीन श्रद्धादि हैं वे आध्यात्मिक हैं। ऐसा ही कहा भी है कि जो ये ध्यान करने वालों के मैत्री आदि विहार हैं वे बाहर के साधनों से कुछ प्रीति न रख कर प्रकृष्ट धर्म को निष्पादन करते हैं। इन दोनों (अर्थात् बाह्य और आध्यात्मिक निमित्तों) में से जो चित्त सम्बन्धी है वह बलवान् है। किस तरह से? ज्ञान और वैराग्य से बढ़ कर कौन है। दण्डकारण्य को चित्त बल के विदून कौन शारीरिक कर्म से शून्य कर सका है अथवा अगस्त्य मुनि की नाईं समुद्र को कौन पी सका है॥

सूत्र ११

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥

अर्थ

हेतु फल आश्रय और आलम्बन से वासना संगृहीत अर्थात् इकट्ठी हैं सो इन चारों के नाश होने पर वासनाओं का भी अभाव हो जाता है ॥

भाष्य

हेतुर्धर्मात् सुखं, अधर्मात् दुःखं, सुखाद्रागो, दुःखाद्द्वेष-स्ततश्च प्रयत्नस्तेन मनसा वाचा कायेन वा परिष्पन्दमानः परमनुगृह्णाति उपहन्ति वा, ततः पुनर्धर्माधर्मौ सुखदुःखे रागद्वेषाविति। प्रवृत्तमिदं षडरं संसारचक्रमस्य च प्रतिक्षण-मावर्तमानस्याविद्या नेत्री, मूलं सर्वक्लेशानामित्येव हेतुः। फलन्तु, यमाश्रित्य यस्य प्रत्युत्पन्नता धर्मादेः न ह्यपूर्वोपजनः। मनस्तु साधिकारमाश्रयो वासनानां। नह्यवसिताधिकारे मनसि निराश्रया वासनाः स्थातुमुत्सहन्ते। यदभिमुखीभूतं वस्तु यां वासनां व्यनक्ति तस्यास्तदालम्बनमेवं हेतुफलाश्रयालम्बनैरेतैः संगृहीताः सर्वा वासनाः। एषामभावे तत्संश्रयाणामपि वासना-नामभावः। नास्त्यसतः सम्भवो, न चास्ति सतो विनाश इति। द्रव्यत्वेन सम्भवन्त्यः कथं निवर्तिष्यन्ते वासना इति ॥

अर्थ

हेतुः—धर्म से सुख, अधर्म से दुःख, सुख से राग, दुःख से द्वेष, फिर उन से प्रयत्न अर्थात् कोशिश, प्रयत्न से पुरुष मन वाणी और शरीर से चेष्टा करता है और दूसरों पर कृपा करता है वा उन को कष्ट देता है। फिर उस से धर्म और अधर्म सुख दुःख राग द्वेष होते हैं। ऐसा छै आरों वाला संसार चक्र प्रवृत्त है। और इस प्रतिक्षण चलने वाले का नेत्री (अर्थात् चलाने वाली) अविद्या है जो सब क्लेशों को मल है। यह ही हेतु है। फलः—जिस का

आश्रय लेकर जो धर्मादि को वर्तमानता है और वह अपूर्व उत्पत्ति नहीं वह फल है। अधिकार युक्त मन वासनाओं का आश्रय है। क्योंकि समाप्त अधिकार वाले मन में आश्रय रहित वासना नहीं रह सकीं। जो सन्मुख वस्तु जिस वासना को प्रगट करता है उस वासना का वह आलम्बन है। इस प्रकार इन हेतु फल आश्रय और आलम्बन करके सब वासना संगृहीत अर्थात् इकट्ठी हैं। इन चारों के अभाव होने पर उन के आश्रय भूत वासनाओं का भी अभाव होजाता है क्योंकि जो वस्तु है ही नहीं उस का सम्भव नहीं और जो है उस का विनाश नहीं। अब वासना तब उत्पन्न होती हैं जब कोई द्रव्य उन के अभिमुख हो तो फिर इन को निवृत्ति कैसे होगी ?

सूत्र १२

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदात् धर्माणां॥

अर्थ

धर्मों के अध्वभेद से अतीतता व अनागतता वस्तु के स्वरूप से ही है॥

भाष्य

भविष्यत् व्यक्तिकमनागतम्, अनुभूतव्यक्तिकमतीतं, स्वव्यापारोपारूढं वर्तमानं, त्रयञ्चैतद्वस्तुज्ञानस्य ज्ञेयं। यदि चैतत्स्वरूपतो नाभविष्यन्नेदं निर्विषयं ज्ञानमुदयस्यत। तस्मादतीतानागतं स्वरूपतोस्तीति। किञ्च भोगभागीयस्य वाऽपवर्गभागीयस्य वा कर्मणः फलमुत्पित्सुः यदि निरुपाख्यमिति तदुद्देशेन तेन निमित्तेन कुशलानुष्ठानं न युज्येत। सतश्च फलस्य निमित्तं नैमित्तिकस्य विशेषानुग्रहणं कुरुते, नापूर्वमुत्पादयति। धर्मी चानेकधर्मस्वभावस्तस्य चाध्वभेदेन धर्माः प्रत्यवस्थिताः। न च वर्तमानं व्यक्तिविशेषापन्नं द्रव्यतोऽस्त्येवमतीतमनागतञ्च। कथं तर्हि ? स्वेनैव व्यङ्ग्येन स्वरूपेणानागतमस्ति, स्वेन चानुभूतव्यक्तिकेन स्वरूपेणातीतमिति। वर्तमानस्यैवाध्वनः स्वरूपव्यक्ति-

रिति । न सा भवत्यतीतानागतयोरध्वनोरेकस्य चाध्वनः समये द्वावध्वानौ धर्मिसमन्वागतौ भवत एवेति नाभूत्वाभावास्त्रया-णामध्वनामिति ॥

अर्थ

जो होने वाली वस्तु है वह अनागत है और जो होचुकी है वह अतीत है और जो अपने व्यापार में आरूढ़ है वह वर्तमान है। वस्तु ज्ञान की ये तीनों बातें जानने योग्य हैं। अगर ये बातें वस्तु के स्वरूप से न होवें तो यह निर्विषयक (अर्थात् जिस का विषय वा वस्तु से सम्बन्ध नहीं) ज्ञान उदय न होवे। इसलिये अतीत और अनागत स्वरूप से है। और भी देखो। जो कर्म भोग वा अपवर्ग के भागी हैं उन का फल कि जिस के उत्पन्न करने की इच्छा हो यदि निस्वरूप होवे तो उस फल के उद्देश से उस निमित्त अर्थात् कर्म से कुशल पुरुष का अनुष्ठान युक्त न होवे। कारण (अर्थात् कर्म) होने वाले फल के वर्तमान करने में समर्थ है और किसी अपूर्व उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है। निमित्त तो नैमित्तिक का विशेष अनुग्रह करता है परन्तु कोई अपूर्व बात को पैदा नहीं करता है। धर्मी अनेक धर्म वाला है। उस के अध्वभेद से धर्म प्रत्यवस्थित होते हैं। और ऐसा नहीं है कि जैसे वर्तमान वस्तु विशेष में आपन्न होता है वैसे अतीत और अनागत भी होवें। तो किस तरह से ? अपने ही प्रगट होने वाले स्वरूप से अनागत है और अपने गत वस्तु स्वरूप से अतीत है। वर्तमान अध्व ही के स्वरूप को व्यक्ति (अर्थात् इज़हार) है और वह अतीत और अनागत अध्वों को नहीं होती। एक अध्व के समय वे दोनों अध्व धर्मी के साथ समन्वागत होते हैं। अतः तीनों अध्वों का भाव न होकर नहीं है अर्थात् ऐसा नहीं है कि तीनों अध्व पहिले नहों और अब होजावें। पहिले वे थे और तभी अब होते हैं ॥

सूत्र १३

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥

अर्थ

वे तीनों अध्व व्यक्त (अर्थात् वर्तमान) और सूक्ष्म (अर्थात् अतीत और अनागत) गुण रूप हैं ॥

भाष्य

ते त्वल्वमीत्र्यध्वानो धर्मा वर्तमाना व्यक्तात्मानोऽतीता-नागताः सूक्ष्मात्मानः षड्विशेषरूपाः सर्वमिदं गुणानां सन्नि-वेशविशेषमात्रमिति । परमार्थतो गुणात्मानः । तथा च शास्त्रा-नुशासनं:—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तन्तन्मायेव सुतुच्छकं ॥ इति

यदा तु सर्वे गुणाः कथमेकः शब्द एकमिन्द्रियमिति ॥

अर्थ

वे तीनों अध्व अर्थात् धर्मों में से वर्तमान तो व्यक्त (अर्थात् विद्यमान वस्तु) रूप है और अतीत और अनागत सूक्ष्म रूप हैं पर तीनों छै अविशेष रूप हैं और सब यह गुणों का विशेष सन्निवेश मात्र है। इस रीति से यदि परमार्थ दृष्टि से देखा जाय तो सब गुण रूप हैं और ऐसा ही शास्त्र (अर्थात् अथर्व वेद) का उपदेश है कि गुणों का परम रूप दिखाई नहीं देता और जो दिखाई देता है वह अत्यन्त तुच्छ माया है। अब जब सब तो गुण हैं फिर यह क्या एक तो शब्द होवे और एक इन्द्रिय होवे यानी विषय और विषयी भाव कैसा ?

सूत्र १४

परिणामैकत्वात् वस्तुतत्त्वम् ॥

अर्थ

एक ही परिणाम की वजह से वस्तु की आस्तिता है। यद्यपि अनेक प्रकार के भिन्न २ परिणाम दिखलाई देते हैं परन्तु वे सब गुणों का एक ही परिणाम हैं। अतः वस्तु (अथवा गुण) तत्त्व रूप हैं यानी जैसी को तैसी बनी रहती और उस का नाश नहीं होता यद्यपि उस के रूपान्तर होते हैं॥

भाष्य

प्रख्याक्रियास्थितिशीलानां गुणानां ग्रहणात्मकानां करण-भावेनैकः परिणामः श्रोत्रमिन्द्रियं, ग्राह्यात्मकानां शब्दभावेनैकः परिणामः शब्दोविषय इति। शब्दादीनां मूर्त्तिसमानजातीया-

त्मनैकः परिणामः। पृथिवीपरमाणुस्तन्मात्रावयवस्तेषाञ्चैकः परिणामः, पृथिवी गौर्वृक्षः पर्वत इत्येवमादिर्भूतान्तरेष्वपि स्नेहौष्ण्यप्रणामित्वावकाशदानान्युपादानान्युपादाय सामान्यमेक विकारारम्भः समाधेयः। नास्त्यर्थो विज्ञानविसहचरी। अस्ति तु ज्ञानमर्थविसहचरं। स्वप्नादौ कल्पितमित्यनया दिशा ये वस्तुस्वरूपमपन्हवते ज्ञानपरिकल्पनामात्रं। वस्तु स्वप्नविषयोपमं न परमार्थतः अस्तीति ये आहुः ते तथेति प्रत्युपस्थितमिदं स्वमहात्म्येन वस्तु कथं अप्रमाणात्मकेन विकल्पज्ञानबलेन वस्तु-स्वरूपमुत्सृज्यसुपयन्त तदेवापलपन्तः श्रद्धेयवचनाः स्युः॥ कुत-श्चैतदन्याय्यम्?

अर्थ

प्रकाश क्रिया और स्थिति स्वभाव वाले ग्रहणात्मक (ग्रहण यानी इन्द्रियों की जो आत्मा हैं, वा इन्द्रिय रूप) गुणों का इन्द्रियभाव से एक परिणाम होता है जैसा कान इन्द्रिय है। और ग्राह्य (अर्थात् जिस का ग्रहण वा ज्ञान किया जावे) रूप गुणों का शब्दभाव से एक परिणाम होता है जैसे शब्द विषय। इस प्रकार शब्दादि जो मूर्ति (अर्थात् पांचो गुणों की उपलब्धि जिस में हो) समान जाति वाले हैं उन का एक ही परिणाम है। पृथिवी के परमाणु उस की तन्मात्रा के अवयव हैं। उन परमाणुओं का भी एक ही परिणाम है यथा पृथिवी, गौ, वृक्ष, पर्वत इति। इसी तरह पर आदि के जो अन्य चार भूत हैं अर्थात् जल, अग्नि, वायु और आकाश उन में भी रस, उष्णता, प्रणामित्व और अवकाशदान (अर्थात् अवकाश का देना) उपादानों को ग्रहण करके सामान्य रीति से एक ही विकार के आरम्भ का समाधान होता है। अर्थ विज्ञान का व्यभिचारी (अर्थात् बिगाड़ने वाला) नहीं होता परन्तु ज्ञान तो अर्थ का बिगाड़ने वाला होता है जैसे स्वप्नादि में कल्पित ज्ञान। इस रीति से जो वस्तु के रूप का मिटाना है (अर्थात् वस्तु है ही नहीं यह कहना है) केवल ज्ञान की परिकल्पना (अर्थात् फर्ज़) मात्र है। और जो यह कहते हैं कि वस्तु स्वप्नविषय के सदृश है और परमार्थतः (अर्थात् वास्तव में) है ही नहीं। वे जब यह कहते हैं कि यह रक्खी हुई चीज़ अपने ही महात्म (अर्थात् सामर्थ्य, अथवा विना किसी दूसरे की सहायता) से वैसी ही

है तो जब उन्होंने प्रमाण रहित विकल्पज्ञान के बल से वस्तु के स्वरूप को छोड़ कर और फिर ग्रहण करके यह कहा कि वह वस्तु यह ही है फिर उन का कहना कैसे विश्वास के योग्य होवै अर्थात् किसी तरह से नहीं॥ तो यह अन्याय क्यों है ?

सूत्र १५

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः॥

अर्थ

एक ही वस्तु के बारे में पृथक् २ विचार होने से वस्तु और उस के ज्ञान की राह ही अलग २ है अर्थात् वे दोनों भिन्न २ हैं॥

भाष्य

बहुचित्तावलम्बनीभूतमेकं वस्तु साधारणं, तत् खलु नैकचित्तपरिकल्पितं, नाप्यनेकचित्तपरिकल्पितं, किन्तु स्वप्रतिष्ठितम्। कथं? वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्। धर्मापेक्षं चित्तस्य वस्तुसाम्येऽपि सुखज्ञानं भवत्यधर्मापेक्षं तत एव दुःखज्ञानं, अविद्यापेक्षं तत एव मूढज्ञानं, सम्यक्दर्शनापेक्षं तत एव माध्यस्थ्यज्ञानमिति। कस्य तच्चित्तेन परिकल्पितं, न चान्यचित्तपरिकल्पितेनार्थेनान्यस्य चित्तोपरागो युक्तः। तस्माद्वस्तुज्ञानयो ग्राह्यग्रहणभेदभिन्नयोर्विभक्तः पन्था। नानयोः संकरगन्धोऽप्यस्तीति। सांख्यपक्षे पुनर्वस्तु त्रिगुणं। चलञ्च गुणवृत्तमिति। धर्मादिनिमित्तापेक्षं चित्तैरभिसम्बध्यते। निमित्तानुरूपस्य च प्रत्ययस्योत्पद्यमानस्य तेन तेनात्मना हेतुर्भवति। केचिदाहुर्ज्ञानसहभूरेवार्थो भोग्यत्वात् सुखादिवदिति। त एतया द्वारा साधारणत्वं बाधमानाः पूर्वोत्तरेषु क्षणेषु वस्तुरूपमेवापह्नुवते॥

अर्थ

बहुत से चित्तों का आलम्बनीभूत एक वस्तु सब के लिये साधारण है। वह किसी एक चित्त से परिकल्पित नहीं और न अनेक चित्तों से परिकल्पित

है किन्तु स्वप्रतिष्ठित (अर्थात् जो अपने आप में प्रतिष्ठित हो यानी जिस की स्थिति किसी अन्य की वजह से न हो) है। सो कैसे ? इस तरह से कि वस्तु तो एक ही होती है और उस के बारे में विचार पृथक् २ होते हैं यथा धर्म की अपेक्षा से चित्त को एक ही वस्तु से सुखज्ञान होता है, अधर्म की अपेक्षा से उस ही वस्तु से दुःखज्ञान होता है। अविद्या (अर्थात् अज्ञान) की अपेक्षा से मूढ़ज्ञान होता है और सम्यक्दर्शन (अर्थात् यथार्थज्ञान) की अपेक्षा से माध्यस्थज्ञान होता है। तो अब किस के चित्त से उस वस्तु की परिकल्पना है ? अर्थात् किसी के चित्त से नहीं। अपरञ्च जो अर्थ किसी चित्त से परिकल्पित है उस का उपराग अन्य चित्त के साथ होना दुरुस्त नहीं। इसलिये वस्तु और ज्ञान कि जो ग्राह्य और ग्रहण भेद से पृथक् २ हैं भिन्न २ हैं और इन दोनों में ज़रा सा भी मेल नहीं। सांख्यपक्ष से देखो तो फिर वस्तु तीन (अर्थात् सत्, रज, तम) गुण वाली है और गुण का स्वभाव चल है। वह धर्मादि कारण की अपेक्षा से भिन्न २ चित्तों के साथ अभिसम्बन्धित होता है और कारण के अनुरूप उत्पन्न प्रत्यय का उस रूप से हेतु होती है। कोई यह कहते हैं कि सुखादि की नाईं भोग्यत्व की वजह से अर्थ की उत्पत्ति ज्ञान ही के साथ है अर्थात् जब ज्ञान होता है तब ही अर्थ का प्रादुर्भाव है अन्यथा नहीं। वे इस रीति से वस्तु के साधारण होने को दूर करके पहिले और बाद के क्षणों में वस्तु के रूप को ही मिटाते हैं ॥

सूत्र १६

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥

अर्थ

इस सूत्र में कुछ इख़्तसार कर दिया है। पूरा इस प्रकार है :—

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु, यदा एकचित्ततन्त्रं
वस्तु तदा तत् अप्रमाणकं किं स्यात् ।

अर्थात् वस्तु एक चित्त के आधीन नहीं है। और जो ऐसी होवे तो वह कि जिस का प्रमाण न हो सके क्या होवे ॥

भाष्य

एकचित्ततन्त्रं चेद्वस्तुस्यात्तदाचित्ते व्यग्रे निरुद्धे वा स्वरूप-मेव तेनापरामृष्टमन्यस्याविषयीभूतमप्रमाणकमगृहीतस्वभावकं

केनचित्तदानीं किं तत्स्यात्। सम्बध्यमानं वा पुनश्चित्तेन कुत उत्पद्येत्। ये चास्यानुपस्थिताभागास्तेचास्य न स्युरेवंनास्ति पृष्ठमित्युदरमपि न गृह्येत। तस्मात् स्वतन्त्रोर्थः सर्वपुरुष-साधारणः। स्वतन्त्राणि च चित्तानि प्रतिपुरुषं प्रवर्तन्ते। तयोः सम्बन्धादुपलब्धिः पुरुषस्य भोग इति॥

अर्थ

अगर वस्तु एक चित्त के आधीन हो तो जब व्यग्र (अर्थात् उच्चाटित) वा निरुद्ध होने पर चित्त उस वस्तु के स्वरूप से अपरामृष्ट (अर्थात् अनुपरक्त) रहा और वह स्वरूप अन्य का अविषयीभूत हुआ, अतः अप्रमाणक (अर्थात् जिस का किसी से ग्रहण न हो वा जिस को कोई न जानें) ठहरा तो वह वस्तु फिर क्या है अर्थात् कुछ न हो। अपरञ्च वह वस्तु चित्त से सम्बध्यमान होकर फिर कैसे उत्पन्न हो? अर्थात् किसी तरह से नहीं। और जो उस वस्तु के उपस्थित भाग नहीं हैं वे उस के न होवें यथा पीठ हो और पेट मालूम न हो। परन्तु ऐसा नहीं होता। अतः अर्थ स्वतन्त्र अर्थात् चित्तनिर्पेक्ष है और सब पुरुषों के लिये समान है। चित्त भी स्वतन्त्र हैं और प्रत्येक पुरुष के लिये पृथक् २ रीति से प्रवृत्त होते हैं। इन दोनों अर्थात् चित्त और अर्थ के सम्बन्ध से उपलब्धि (यानी ज्ञान) पुरुष का भोग है॥

सूत्र १७

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्॥

अर्थ

उस (वस्तु) के साथ चित्त के उपरक्त होने वा न होने से वस्तु ज्ञात और अज्ञात होती है॥

भाष्य

अयस्कान्तमणिकल्पा विषयाः अयस्धर्मकं चित्तमभिसम्बध्योपरंजयन्ति। येन च विषयेणोपरक्तं चित्तं स विषयो ज्ञात-स्ततोन्यः पुनरज्ञातो। वस्तुनो ज्ञाताज्ञातस्वरूपत्वात् परिणामि चित्तं। यस्य तु तदेव चित्तं विषयस्तस्यः—

अर्थ

चुम्बक पत्थर के समान विषय लोहे के समान चित्त को सम्बन्ध करके उपरक्त करते हैं। अब जिस विषय से चित्त उपरक्त होता है वह ज्ञात है और अन्य अज्ञात। वस्तु स्वरूप के ज्ञात और अज्ञात होनें से चित्त बदलने वाला है अर्थात् ऐसा साबित होता है कि परिणाम उस में होते रहते हैं। जिस का वह चित्त विषय है उस को:—

सूत्र १८

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्या-परिणामित्वात् ॥

अर्थ

चित्त की वृत्तियां सदैव ज्ञात हैं क्योंकि उस (चित्त) के स्वामी पुरुष में परिणाम नहीं होता ॥

भाष्य

यदि चित्तवत् प्रभुरपि परिणमेत ततस्तद्विषया चित्तवृत्तयः शब्दादिविषयवत् ज्ञाताज्ञाताः स्युः। सदाज्ञातत्वन्तु मनस्तत्-प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वमनुमापयति। स्यादाशङ्का चित्तमेव स्वाभासं विषयाभासञ्च वैशेषिकानां चित्तात्मवादिनाञ्च भविष्यत्यग्निवत् ॥

अर्थ

अगर चित्त की नाईं प्रभू अर्थात् पुरुष में भी परिणाम होवें तो तद्विषयक चित्त की वृत्तियां शब्दादि विषय की नाईं ज्ञात और अज्ञात होवें। परन्तु मन को सदैव जान लैना उस के प्रभु यानी पुरुष के अपरिणामित्व (अर्थात् जिस में परिणाम न हो) का अनुमान कराता है। अब शायद वैशेषिक शास्त्र के जानने वालों और उन लोगों को कि जो चित्त ही को आत्मा मानते हैं यह आशंका हो कि चित्त स्वाभास (अर्थात् अपने आप को प्रकाशित करने वाला) और विषयाभास (अर्थात् विषयों को प्रकाशित करने वाला) है ॥

न तत् स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥

अर्थ

वह चित्त अपने आप को प्रकाशित करने वाला नहीं है क्योंकि वह दृश्य है ॥

भाष्य

यथेतराणीन्द्रियाणि शब्दादयश्च दृश्यत्वान्न स्वाभासानि तथा मनोपि प्रत्येतव्यं। न चाग्निरत्र दृष्टान्तं। नह्यग्निरात्मस्वरूपमप्रकाशं प्रकाशयति। प्रकाशश्चायं प्रकाश्यप्रकाशक संयोगे दृष्टः। न च स्वरूपमात्रेस्ति संयोगः। किञ्च स्वाभासं चित्तमित्यग्राह्यमेव कस्यचिदिति शब्दार्थः। तद्यथा स्वात्मप्रतिष्ठमाकाशं इत्यप्रतिष्ठमेवेत्यर्थः। स्वबुद्धिप्रचारप्रतिसंवेदनात् सत्वानां प्रवृत्तिर्दृश्यते। क्रुद्धोहम्भीतोहममुत्र मे रागोऽमुत्र मे क्रोध इत्येतत् स्वबुद्धेरग्रहणे न युक्तमिति ॥

अर्थ

जैसे इन्द्रियां और शब्दादि दृश्य होने की वजह से स्वाभास नहीं हैं वैसे ही मन को भी जानना चाहिये। इस विषय में अग्नि का दृष्टान्त ठीक नहीं। क्योंकि अग्नि अपने आप को कि जो प्रकाश रहित है प्रकाशित नहीं करती है। यह जो प्रकाश है सो प्रकाश्य और प्रकाशक के संयोग होने पर देखा जाता है और स्वरूप मात्र में संयोग नहीं होता। और भी देखो। जब चित्त को स्वाभास माना तो मतलब यह हुआ कि वह किसी का ग्राह्य नहीं अर्थात् उस को कोई जान नहीं सक्ता। जैसे कहा कि आकाश अपने आप में प्रतिष्ठित है जिस से यह ही मतलब हुआ कि वह किसी पर स्थित नहीं अथवा प्रतिष्ठा रहित है। अपनी बुद्धि के प्रचार को जान लेने से प्राणियों की प्रवृत्ति दिखलाई देती है। यथा मैं क्रोधित हूं मैं डरा हुआ हूं इस में मेरी प्रीति है इस में मेरा द्वेष है। यह बातें अगर अपनी बुद्धि का ग्रहण न हो तो नहीं हो सक्तीं ॥

सूत्र २०

एकसमये चोभयानवधारणम् ॥

अर्थ

एक समय में दोनों (अर्थात् चित्त और दृश्य) का अवधारण (अर्थात् निश्चय) नहीं होसक्ता ॥

भाष्य

न चैकस्मिन् क्षणे स्वपररूपावधारणं युक्तं। क्षणिकवादिनो यद् भवनं सैव क्रिया तदेव च कारकमित्यभ्युपगमः। स्यान्मतिः स्वरसनिरुद्धं चित्तं चित्तान्तरेण समनन्तरेणगृह्यत इति ॥

अर्थ

एक ही क्षण में अपना (अर्थात् चित्त का) और दृश्य के रूप का अवधारण अर्थात् निश्चय होजाना ठीक नहीं। क्षणिकवादियों (अर्थात् जो लोग चित्त को क्षणिक मानते हैं) का तो ऐसा मत है कि जो फल है वह ही क्रिया है वह ही कारक है। अब यह ख्याल होता है कि अपने आप निरुद्ध चित्त का ग्रहण होने वाले चित्त से शायद होवै। ॥

सूत्र २१

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसङ्करश्च ॥

अर्थ

अगर चित्त दूसरे चित्त का दृश्य होवै अर्थात् एक चित्त का ग्रहण दूसरे चित्त से हो सके तो बुद्धि के ग्रहण करने वाली बुद्धि का ठीक न रहैगा और स्मृति भी गड़बड़ होजावैगी ॥

भाष्य

अथ चित्तं चेच्चित्तान्तरेण गृह्यते, बुद्धिः केन गृह्यते? साप्यन्यया साप्यन्ययेत्यतिप्रसङ्गः स्मृतिसङ्करश्च। यावन्तो बुद्धि-बुद्धीनामनुभवास्तावन्त्यः स्मृतयः प्राप्नुवन्ति। तत्संकराच्चैक-स्मृत्यनवधारणञ्च स्यादित्येवं बुद्धिप्रतिसंवेदिनं पुरुषमपलपद्भिः वैना-शिकैः सर्वमेवाकुलीकृतं। ते तु भोक्तृस्वरूपं यत्र क्वचन कल्प-

यतो न न्यायेन संगच्छन्ते। केचित् सत्वमात्रमपि परिकल्प्यास्ति स सत्वो य एतान् पञ्चस्कन्धान्निक्षिप्यान्यांश्च प्रतिसंदधाती-त्युक्त्वा तत एव पुनस्त्रस्यन्ति। तथास्कन्धानामहन्निर्वेदाय विरा-गायानुत्पादाय प्रशान्तये गुरोरन्तिके ब्रह्मचर्य्यं चरिष्यामीत्युक्त्वा सत्वस्य पुनः सत्वमेवापह्नुवते। सांख्ययोगादयस्तु प्रवादाः स्व-शब्देन पुरुषमेव स्वामिनं चित्तस्य भोक्तारमुपयन्तीति। कथं ?

अर्थ

अगर चित्त का दूसरे चित्त से ग्रहण होवे तो फिर बुद्धि का ग्रहण (ज्ञान) किस से हो ? उस का और से और और का और से परन्तु इस रीति से अतिप्रसंग अर्थात् अनवस्था होगी और स्मृति का भी कुछ ठीक नहीं रहैगा। जितने बुद्धि के समझने वाली बुद्धियों के अनुभव होंगे उतनी ही स्मृतियां होगीं। और स्मृतियों के संकर अर्थात् गड़बड़ी से एक स्मृति का ठीक न रहैगा। इस प्रकार बुद्धि के जानने वाले पुरुष को दूर करके अर्थात् न मान कर वैनाशिकों (नास्तिकों) ने उपद्रव मचा रक्खा है। वे कहीं २ भोक्ता के स्वरूप को मानते हैं परन्तु यह न्यायानुसार नहीं है। कोई २ सत्व मात्र को फ़र्ज़ करके यह कहते हैं कि वह सत्व है जो इन पञ्चस्कन्धों को त्याग कर अन्य स्कन्धों का स्पर्श करते हैं और फिर उस ही से डरते हैं। तैसे ही यह कह कर कि मैं गुरू के समीप स्कन्धों की अनुत्पत्ति के निमित्त कि जिस से निर्वेद विराग व प्रशान्ति होवै ब्रह्मचर्य्य करूंगा पुनः उस सत्व के सत्व को ही नहीं मानते। सांख्य और योगादि प्रवाद (अर्थात् जो उपहत वाद नहीं) स्व शब्द से स्वामी व चित्त के भोक्ता पुरुष ही को ग्रहण करते हैं। सो किस तरह से ?

सूत्र २२

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्॥

अर्थ

चितिशक्ति (अर्थात् पुरुष) को कि जिस का संक्रमण कहीं नहीं होता तदाकारापत्ति होती है अर्थात् जब वह बुद्धि के अनुरूप होजाता है तो बुद्धि का ज्ञान होता है॥

भाष्य

अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च, परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति। तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारिमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिराख्यायते। तथाचोक्तं:—

न पातालं न च विवरं गिरीणां
नैवान्धकारं कुक्षयो नोदधीनाम्
गुहा यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं
बुद्धिवृत्तिमविशिष्टां कवयो वेदयन्ते॥ इति

अतश्चैतदभ्युपगम्यते—

अर्थ

भोक्तृशक्ति अपरिणामिनी (अर्थात् जिस का परिणाम न होवै) और अप्रतिसंक्रमा (अर्थात् जिस का किसी चीज़ में संक्रमण न हो) हैं। वह जब परिणाम को प्राप्त होने वाले अर्थ में प्रतिसंक्रान्त सो होती है तो उस को वृत्ति में अनुपतित होजाती है (अर्थात् उस वृत्ति के अनुरूप होजाती है)। और उस बुद्धि वृत्ति के कि जिस को चैतन्य का उपग्रह (अर्थात् उपराग) प्राप्त है अनुकारि होनें ही से बुद्धि वृत्ति से अभिन्न ज्ञान वृत्ति कहलाती है। ऐसा ही कहा भी है कि सनातन ब्रह्म न पाताल में है न पर्वतों की कन्दराओं में है न कुक्षि के अन्धकार में है न समुद्र में है। जिस गुहा यानी गुफ़ा (जो कि प्रकृति है) में वह स्थित है उस अभिन्न बुद्धि वृत्ति को कवी लोग अर्थात् बुद्धिमान जानते हैं॥ इस से अब यह सिद्ध हुआ कि

सूत्र २३

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्॥

अर्थ

दृष्टा (आत्मा) और द्रश्य से उपरक्त चित्त सर्वविषयक है॥

भाष्य

मनो हि मन्तव्येनार्थेनोपरक्तं तत्स्वयञ्च विषयत्वाद्विषयिणा पुरुषेणात्मीयया वृत्त्याभिसम्बद्धं। तदेतच्चित्तमेव, द्रष्टृदृश्योपरक्तं

विषयविषयिनिर्भासं, चेतनाचेतनस्वरूपापन्नं, विषयात्मकमप्य-
विषयात्मकमिवाचेतनं चेतनमिव, स्फटिकमणिकल्पं सर्वार्थमि-
त्युच्यते । तदनेन चित्तसारूप्येण भ्रान्ता: केचित्तदेव चेतनमि-
त्याहु: । अपरे चित्तमात्रमेवेदं सर्वं, नास्ति खल्वयं गवादि
घटादिश्च सकारणो लोक इति । अनुकम्पनीयास्ते, कस्मात्,
अस्ति हि तेषां भ्रान्तिबीजं, सर्वरूपाकारनिर्भासं चित्तमिति ।
समाधिप्रज्ञायां प्रज्ञेयोऽर्थः प्रतिबिम्बीभूतस्तस्यालम्बनीभूतत्वा-
दन्य: । सचेदर्थश्चित्तमात्रं स्यात्, कथं प्रज्ञयैव प्रज्ञारूपमवधा-
र्य्येत । तस्मात् प्रतिबिम्बीभूतोऽर्थः प्रज्ञायां येनावधार्य्यते स
पुरुष इति । एवं गृहीतृग्रहणग्राह्यस्वरूपचित्तभेदास्त्रयमप्येत-
त्तज्जातितः प्रविभजन्ते, ते सम्यग्दर्शिनस्तैरधिगतपुरुषः । इतः :—

अर्थ

मन मन्तव्य (अर्थात् जिस का विचार किया जाय) अर्थ से उपरक्त होता है । वह खुद विषय होने से विषयी पुरुष करके अपनी वृत्ति की द्वारा अभि-सम्बद्ध है । सो यह चित्त ही द्रष्टा और दृश्य से उपरक्त होता है, विषय और विषयी का निर्भासरूप है । चेतन और अचेतन स्वरूप में आपन्न होता है । विषयरूप होकर भी उस (विषयरूप) से रहित सा है, अचेतन होकर चेतन सा है । और स्फटिकमणि के सदृश है । इस से चित्त को सर्वार्थ कहते हैं । परन्तु कोई २ चित्त को सारूप्यता से चकमक होकर चित्त ही को चेतन कहने लगते हैं और कोई यह कहते हैं कि यह सब चित्तमात्र ही है और गवादि घटादि सकारण (कारण सहित) लोक कुछ नहीं है । ऐसे लोग रहम के क़ाबिल हैं । क्यों ? क्योंकि उन में भ्रान्तिबीज यानी चित्त ही सर्वरूपाकारनिर्भास है मौजूद है । समाधि प्रज्ञा में जो प्रज्ञा सम्बन्धी अर्थ प्रतिबिम्बित होता है उस (चित्त) के आलम्बनीभूत होने से अन्य है । अगर वह अर्थ चित्तमात्र होता तो प्रज्ञा ही से प्रज्ञा के रूप का निश्चय कैसे होवे । इसलिये प्रज्ञा में प्रतिबिम्बीभूत अर्थ का जिस से निश्चय होता है वह पुरुष है । ऐसे ही गृहीतृ ग्रहण ग्राह्य स्वरूप चित्त के तीनों भेद तीनों की जाति से जो प्रविभक्त करते हैं वे सम्यक्दर्शी हैं और वे पुरुष को समझते हैं । इस से :—

सूत्र २४

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥

अर्थ

वह चित्त असंख्य वासनाओं से रंगा हुआ परार्थ है क्योंकि वह मिल करके फल का देने वाला है ॥

भाष्य

तदेतच्चित्तमसंख्येयाभिर्वासनाभिरेव चित्री कृतमपि परार्थं परस्य भोगापवर्गार्थं न स्वार्थं संहत्यकारित्वाद् गृहवत्। संहत्य-कारिणा चित्तेन न स्वार्थेन भवितव्यं। न सुखचित्तं सुखार्थं। न ज्ञानं ज्ञानार्थमुभयमप्येतत् परार्थं। यश्च भोगेनापवर्गेन चार्थेनार्थवान् पुरुषः स एव परो। न परः सामान्यमात्रं। यत्तु किञ्चित् परं सामान्यमात्रं स्वरूपेणोदाहरेद्वैनाशिकस्तत् सर्वं संहत्यकारित्वात् परार्थमेव स्यात्। यस्त्वसौ परो विशेषः स न संहत्यकारी पुरुष इति ॥

अर्थ

सो यह चित्त असंख्य वासनाओं से रंगा हुआ दूसरे के अर्थात् भोग और अपवर्ग के अर्थ है और अपने लिये नहीं क्योंकि यह घर की नाईं मिल करके फल देता है। संहत्यकारी चित्त अपने लिये नहीं होता। यथा सुख चित्त सुख के लिये नहीं है ऐसे ही ज्ञान ज्ञान के अर्थ नहीं परन्तु ये दोनों किसी दूसरे के लिये हैं। जो भोग और अपवर्ग अर्थ से अर्थवान् पुरुष है वह ही पर अर्थात् अन्य है और वह सामान्यमात्र नहीं क्योंकि जिस किसी सामान्य-मात्र पर को स्वरूप से नास्तिक बतलाता है वह सब संहत्यकारी (अर्थात् मिल करके फल देने वाला) होने की वजह से परार्थ ही है और जो यह विशेष पर है वह संहत्यकारी पुरुष नहीं है अर्थात् वह पुरुष स्वार्थ है यानी उस से किसी अन्य का काम नहीं निकलता बल्कि अन्य अर्थात् दृश्य उस के अर्थ होता है ॥

सूत्र २५

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ॥

अर्थ

विशेष दर्शी पुरुष की आत्मभाव भावना निवृत्त होजाती है ॥

भाष्य

यथा प्रावृषि तृणाङ्कुरस्योद्भेदेन तद्बीजसत्तानुमीयते, तथा मोक्षमार्गश्रवणेन यस्य रोमहर्षाश्रुपातौ दृश्येते तत्राप्यस्ति विशेषदर्शनबीजमपवर्गभागीयं कर्माभिनिर्वर्त्तितमित्यनुमीयते। तस्यात्मभावभावना स्वाभाविकी प्रवर्त्तते। यस्याभावादिदमुक्तं, स्वभावं मुक्त्वा दोषाद्येषां पूर्वपक्षे रुचिर्भवत्यरुचिश्च निर्णये भवति। तत्रात्मभावभावना—कोऽहमासं, कथमहमासं, किं स्विदिदं, कथं स्विदिदं, के भविष्यामः। कथं भविष्याम इति। सा तु विशेषदर्शिनो निवर्त्तते, कुतः? चित्तस्यैवैष विचित्रः परिणामः, पुरुषस्त्वसत्यामविद्यायां शुद्धश्चित्तधर्मैरपरामृष्ट इति। ततोस्यात्मभावभावना कुशलस्य निवर्त्तते ॥

अर्थ

जैसे वर्षा ऋतु में तृणाङ्कुर के निकलने से उस के बीज की मौजूदगी का अनुमान होता है तैसे मोक्षमार्ग के सुनने से जिस किसी के रोंगटे खड़े होजावें वा आंसू टपकते दिखलाई दें तो उस से यह अनुमान होता है कि उस पुरुष का अपवर्ग भागी कर्म कि जिस का विशेषदर्शन बीज है सम्पादित है। उस के आत्मभाव को भावना अपने आप उठती है। जिस के अभाव से ऐसा होता है कि स्वभाव को छोड़ कर दोष से पुरुषों को पूर्वपक्ष (अर्थात् कर्म का फल नहीं होता और परलोको न होने से परलोक भो नहीं है) में रुचि होती है और निर्णय में अरुचि होती है। अब आत्मभाव भावना यह है कि मैं कौन था और कैसे हुआ, यह क्या है, और किस तरह से, कौन होंगे और कैसे होंगे इति। यह जो आत्मभावभावना विशेष दर्शी की निवृत्त हो जाती है। सो कैसे? क्योंकि चित्त ही का यह विचित्र परिणाम है पुरुष तो

अविद्या के न रहने पर शुद्ध है अर्थात् चित्त के धर्मों से अपरामृष्ट है। इसी से चतुर पुरुष की आत्मभाव भावना निवृत्त होजाती है॥

सूत्र २६

तदाविवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्॥

अर्थ

उस समय चित्त कि जिस का झुकाउ कैवल्य की तरफ़ है विवेक में होता हुआ जाता है (जैसे नदी नीची भूमि में होती हुई समुद्र को पहुंचती है)॥

भाष्य

तदानीं यदस्य चित्तं विषयप्राग्भारमज्ञाननिम्नमासीत्तदस्यान्यथा भवति, कैवल्यप्राग्भारं विवेकजज्ञाननिम्नमिति॥

अर्थ

जो उस पुरुष का (कि जिस की आत्मभावभावना निवृत्त होगई है) पहिले चित्त विषय की तरफ़ झुका हुआ अज्ञान में होकर जाता था सो उस समय (अर्थात् जब उस को आत्मभावभावना निवृत्त होजाती है) और तरह का होजाता है अर्थात् वह कैवल्य को तरफ़ झुका हुआ होता है और विवेकज ज्ञान में होकर जाता है॥

सूत्र २७

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः॥

अर्थ

उस (अर्थात् विवेकनिम्न चित्त) के छिद्रों में संस्कारों की वजह से अन्य २ प्रत्यय आजाते हैं॥

भाष्य

प्रत्ययविवेकनिम्नस्य सत्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रप्रवाहारोहिणश्चित्तस्य तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराण्यस्मीति वा ममेति वा जानामीति वा, न जानामीति वा। कुतः? क्षीयमाणवीजेभ्यः पूर्वसंस्कारेभ्य इति॥

अर्थ

जो चित्त विवेकप्रत्यय में झुका हुआ है और जो सत्व और पुरुष की अन्यतारूप ख्याति के प्रवाह में आरूढ़ है उस के छिद्रों में अन्य प्रत्यय यथा मैं हूं वा मेरा है वा मैं जानता हूं वा मैं नहीं जानता, आजाते हैं। कहां से? पूर्वसंस्कारों से कि जिन के बीज क्षीण होरहे हैं॥

सूत्र २८

हानमेषां क्लेशवदुक्तम्॥

अर्थ

इन का हान (अर्थात् संयोग का अभाव) क्लेशों के हान की नाईं है और उस का ज़िकर हो चुका है॥

भाष्य

यथा क्लेशा दग्धबीजभावा न प्ररोहसमर्था भवन्ति तथा ज्ञानाग्निना दग्धबीजभावः पूर्वसंस्कारो न प्रत्ययप्रसूर्भवति। ज्ञानसंस्कारास्तु चित्ताधिकारसमाप्तिमनुशेरत इति, न चिन्त्यते॥

अर्थ

जैसे क्लेश कि जिन का बीज भाव दग्ध होगया है उगने के लायक नहीं होते तैसे ही पहिले संस्कार कि जिन का बीज भाव ज्ञान की अग्नि से दग्ध होगया है प्रत्यय को पैदा नहीं करते। ज्ञान संस्कार तो चित्त के अधिकार की समाप्ति को करते हैं और उन का चिन्तमन नहीं होता अर्थात् वे चित्त के व्यवहार में नहीं आते॥

सूत्र २९

प्रसंख्यानेप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः॥

अर्थ

प्रसंख्यान (अर्थात् सत्व और पुरुष की अन्यता रूप ख्याति) के होने पर भी जो विरक्त रहता है तो उस को सब तरह से विवेकख्याति होती है और फिर उस से धर्ममेघ नामी समाधि का लाभ होता है॥

भाष्य

यदायं ब्राह्मणः प्रसंख्यानेप्यकुसीदस्ततोपि न किञ्चित् प्रार्थयते, तत्रापि विरक्तस्य सर्वथा विवेकख्यातिरेव भवतीति। संस्कारबीजक्षयान्नास्य प्रत्ययान्तराण्युत्पद्यन्ते, तदास्य धर्ममेघो नाम समाधिर्भवति॥

अर्थ

जब प्रसंख्यान होने पर भी यह ब्राह्मण विरक्त रहता है यानी कुछ उस से नहीं चाहता तो उस को सब तरह से विवेकख्याति ही होती है और फिर संस्कार बीज के क्षय से उस को अन्य प्रत्यय उत्पन्न नहीं होते हैं। तब उस को धर्ममेघ नामी समाधि होती है॥

सूत्र ३०

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः॥

अर्थ

उस धर्म मेघ समाधि के लाभ से क्लेश और कर्म की निवृत्त होती है॥

भाष्य

तल्लाभादविद्यादयः क्लेशाः समूलकाषं कषिता भवन्ति, कुशलाकुशलाश्च कर्माशयः समूलघातं हता भवन्ति। क्लेशकर्म निवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान विमुक्तो भवति। कस्मात्? यस्माद्वि-पर्य्ययो भवस्य कारणं। नहि क्षीणक्लेशविपर्य्ययः कश्चित् केन-चित् क्वचिज्जातो दृश्यते इति॥

अर्थ

उस (धर्ममेघ समाधि) के लाभ से अविद्या को आदि लेकर सब क्लेश जड़ से उखड़ कर दूर होजाते हैं। और भले बुरे कर्म भी मूल सहित नाश को प्राप्त होते हैं। जब इन दोनों अर्थात् क्लेश और कर्म की निवृत्ति होजाती है तो जीता हुआ भी विद्वान विमुक्त होजाता है। सो क्यों? क्योंकि उस से उलटा संसार का कारण है। जिस पुरुष का क्लेश रूपी विपर्य्यय क्षीण होगया है वह कहीं किसी हेतु से उत्पन्न होता हुआ नहीं देखा गया॥

सूत्र ३१

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्यात् ज्ञेयमल्पम् ॥

अर्थ

उस समय (अर्थात् जब क्लेश और कर्म की निवृत्ति होजाती है) ज्ञान के कि जिस का आवरण रूपी मल सब दूर होगया है अनन्त होने की वजह से ज्ञेय (अर्थात् जानने योग्य कोई बात) छोटा रहजाता है ॥

भाष्य

सर्वैः क्लेशकर्मावरणैर्विमुक्तस्य ज्ञानस्यानन्त्यं भवति। तमसाभिभूतमावृतं ज्ञानसत्वं क्वचिदेव रजसा प्रवर्त्तितमुद्घाटितं ग्रहणसमर्थं भवति। तत्र यदा सर्वैरावरणमलैरपगतमलं भवति। तदा भवत्यस्यानन्त्यं। ज्ञानस्यानन्त्यात् ज्ञेयमल्पं सम्पद्यते, यथाकाशे खद्योतः। यत्रेदमुक्तं

अन्धो मणिमविध्यत्त

मनङ्गुलिरावयत्

अग्रीवस्तं प्रत्यमुञ्चत्त

मजिह्वोभ्यपूजयत् ॥ इति

अर्थ

जब ज्ञान का क्लेश और कर्म रूप सब आवरण दूर होजाता है तो उस की आनन्त्य होता है अर्थात् वह अनन्त (अर्थात् जिस का अन्त वा अखीर वा परिमिति न होवे) होजाता है। तमोगुण से अभिभूत वा आवृत्त ज्ञान सत्व कहीं (अर्थात् किसी विषय के अंश विशेष में) रजोगुण से प्रवृत्त अतः प्रकाशित ग्रहण करने (अर्थात् समझने) के समर्थ होता है। सो जब उस का सब आवरण रूपी मल दूर होजाता है तो उस ज्ञान का आनन्त्य (अर्थात् जिस की कुछ परिमिति न हो) होता है। और उस के आनन्त्य से ज्ञेय अल्प होजाता है जैसे आकाश में जुगनू। तब ऐसा कहा गया है, कि अन्धे ने मणि को बेधा अर्थात् उस में छिद्र किया और बिना अंगुली वाले ने उसे पोहा और बिना

गर्दन वाले ने उस को पहना और बिना जीभ वाले ने उस की प्रशंसा की। तात्पर्य्य इस से यह है कि बिना कारण के कार्य्य नहीं होता परन्तु योगी कारण के बिना भी क्रिया करने को समर्थ होता है॥

सूत्र ३२

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्ति-गुणानाम्॥

अर्थ

उस (अर्थात् धर्ममेघ समाधि) से गुणों का कि जो कृतार्थ होगये हैं अर्थात् जिस ग़रज़ से वह थे वह ग़रज़ पूरी होचुकी है परिणामक्रम (अर्थात् अधिकार) समाप्त होजाता है॥

भाष्य

तस्य धर्ममेघस्योदयात् कृतार्थानां गुणानां परिणामक्रमः परिसमाप्यते, नहि कृतभोगापवर्गाः परिसमाप्तक्रमाः क्षणमप्य-वस्थातुमुत्सहन्ते। अथ कोयं क्रमो नामेति?

अर्थ

उस धर्ममेघ समाधि के उदय से गुणों का कि जिन का अर्थ कृत वा पूरा होगया है परिणामक्रम (अर्थात् जिस क्रम से उन में परिणाम होते हैं) पूरे तौर से समाप्त होजाता है। फिर गुण कि जिन का भोग और अपवर्ग रूप अर्थ पूरा होगया और जिन का क्रम भी समाप्त होगया क्षण भर भी ठहर नहीं सक्ते। तात्पर्य्य यह है कि वे (अर्थात् गुण) समाप्ताधिकार होजाते हैं और उन की कुछ नहीं चलती। अब क्रम जिस का नाम है वह क्या है?

सूत्र ३३

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः॥

अर्थ

क्षणों में प्रतियुक्त अर्थात् क्षणों का अनन्तर्य्य रूप व परिणाम के अवसान से ग्राह्य क्रम है॥

भाष्य

क्षणानन्तर्य्यात्मा परिणामस्यापरान्तेनावसानेन गृह्यते क्रमः। न ह्यननुभूतक्रमक्षणा पुराणता वस्त्रस्यान्ते भवति। नित्येषु च क्रमो दृष्टः। द्वयी चेयम् नित्यता। कूटस्थनित्यता, परिणामनित्यता च। तत्र कूटस्थनित्यता पुरुषस्य, परिणामनित्यता गुणानां। यस्मिन् परिणम्यमाने तत्वं न विहन्यते तन्नित्यं। उभयस्य च तत्वानभिघातान्नित्यत्वं। तत्र गुणधर्मेषु बुद्ध्यादिषु परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमो लब्धपर्य्यवसानो, नित्येषु धर्मिषु गुणेष्वलब्धपर्य्यवसानः। कूटस्थनित्येषु स्वरूपमात्रप्रतिष्ठेषु मुक्तपुरुषेषु स्वरूपास्तिता क्रमेणैवानुभूयत इति। तत्राप्यलब्धपर्य्यवसानः शब्दपृष्ठे नास्ति। क्रियामुपादाय कल्पित इति। अथास्य संसारस्य स्थित्या गत्या च गुणेषु वर्तमानस्यास्ति क्रमसमाप्तिर्नवेति ? अवचनीयमेतत्। कथं ? अस्ति प्रश्न एकान्तवचनीयः, सर्वो जातो मरिष्यति श्रो भो इति। अथ सर्वो मृत्वा जनिष्यत इति। विभज्य वचनीयमेतत्। प्रत्युदितख्यातिः क्षीणतृष्णः कुशलो न जनिष्यते इतरस्तु जनिष्यते। तथा मनुष्यजातिः श्रेयसी न वा श्रेयसीत्येवं परिपृष्टे विभज्य वचनीयः प्रश्नः। पशूनधिकृत्य श्रेयसी देवानृषींश्चाधिकृत्य नेति। अयन्त्ववचनीयः प्रश्नः, संसारोयमन्तवानथानन्त इति। कुशलस्यास्ति संसारक्रमपरिसमाप्तिर्नेतरस्येति। अन्यतरावधारणे दोषः। तस्माद्व्याकरणीय एवायं प्रश्न इति। गुणाधिकारक्रमसमाप्तौ कैवल्यमुक्तं। तत्स्वरूपमवधार्य्यते :—

अर्थ

अन्तर रहित क्षणरूप कि जिस का परिणाम के अवसान से गृहण होता है क्रम है। यथा क्रम क्षणों का अनुभव किये बिना किसी वस्त्र को पुराणता

(पुरानापन) अन्त में नहीं होती। यह क्रम नित्यों (अर्थात् जो हमेशः विद्यमान हैं) में दिखलाई देता है। और यह नित्यता दो तरह की है, एक कूटस्थनित्यता और दूसरी परिणामनित्यता। कूटस्थनित्यता पुरुष की है और परिणामनित्यता गुणों की। जो परिणाम को प्राप्त हो परन्तु उस के तत्व की हानि न हो अर्थात् वह जैसा का तैसा बना रहै उसे नित्य कहते हैं। गुण और पुरुष दोनों के अभिघात न होने से दोनों का नित्यत्व है। इस में भी गुणों के धर्म अर्थात् बुद्धि आदि में परिणाम के अवसान से निर्ग्राह्य क्रम लब्धपर्य्यवसान (अर्थात् जिस में पर्य्यवसान वा समाप्ति प्राप्त है) और नित्य धर्मी गुणों में अलब्धपर्य्यवसान है। कूटस्थनित्य और स्वरूप मात्र में प्रतिष्ठित मुक्त पुरुषों में स्वरूप की आस्तिता क्रम ही से अनुभव की जाती है, और वह भी क्रम अलब्धपर्य्यवसान शब्दविकल्प से अस्ति क्रिया को लेकर कल्पना किया जाता है (अर्थात् जो बद्ध हैं उन की चित्ताव्यतिरेक अभिमान से उस के परिणाम करके परिणाम का अध्यास होता है और मुक्त पुरुषों में वह परिणाम यद्यपि अवास्तव है तथापि होने की वजह से कल्पित किया जाता है। अब संसार की कि जो स्थिति और गति करके गुणों में वर्तमान है क्रमसमाप्ति होती है वा नहीं ? यह प्रश्न प्रत्युत्तर के योग्य नहीं। क्यों ? क्योंकि यह एक एकान्तवचनीय (अर्थात् एकान्तता से जिस का उत्तर दिया जाय) प्रश्न है। कि जो उत्पन्न हुए हैं वे क्या सब मरेंगे और सब मर कर क्या फिर पैदा होंगे ? विभाग करके इस का उत्तर देना चाहिये। जिन पुरुषों को ख्याति (अर्थात् सत्व पुरुषान्यता रूप ख्याति) उदित होगई है और जिन की तृष्णा चीण है वे कुशल पुरुष पैदा नहीं होंगे अन्य पैदा होंगे। तैसे ही मनुष्य जाति श्रेष्ट है वा नहीं इस प्रश्न का भी उत्तर विभक्त करके देना चाहिये। अर्थात् पशुओं को लेकर श्रेष्ठ है परन्तु देवता और ऋषियों के मुक़ाबले से श्रेष्ठ नहीं है। यह प्रश्न तो अवचनीय है कि संसार अन्तवान है वा अनन्त। कुशल पुरुष के लिये तो संसार के क्रम की परिसमाप्ति है परन्तु अन्य के लिये नहीं। और तरह से निश्चय करने में दोष आता है इसलिये इस प्रश्न को विवेचना करनी चाहिये। अब गुणों के अधिकार क्रम के समाप्त होने पर कैवल्य होती कही गई है। उस के स्वरूप का निश्चय अगाड़ी सूत्र में किया जाता है॥

सूत्र ३४

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥

अर्थ

पुरुषार्थ से शून्य गुणों का अपने कारण में लीन होना अथवा चितिशक्ति का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होना कैवल्य है। इति शब्द इस योग शास्त्र की समाप्ति सूचक है ॥

भाष्य

कृतभोगापवर्गाणां पुरुषार्थशून्यानां यः प्रतिप्रसवः कार्य्य-कारणात्मनां गुणानां तत् कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा पुनर्बुद्धिसत्वा-नभिसम्बन्धात् पुरुषस्य चितिशक्तिरेव केवला तस्याः सदा तथैवावस्थानं कैवल्यमिति ॥

अर्थ

कार्य्य और कारण रूप गुणों का कि जिन का भोग और अपवर्ग रूप अर्थ कृत (अर्थात् समाप्त) होगया है और इसलिये पुरुषार्थ से रहित हैं अपने कारण में लीन होना कैवल्य है। पुनः बुद्धिसत्व से अभिसम्बन्ध न रहने की वजह से स्वरूप में प्रतिष्ठित पुरुष की केवला (अर्थात् सदैव उस का वैसा ही रहना) चितिशक्ति भी कैवल्य है। इति अर्थात् यह योग शास्त्र समाप्त हुआ ॥

1st February 1897. or माघ कृष्ण ३० सम्बत् १९५३।

इति पातञ्जल योगदर्शनं सम्पूर्णम् शुभम् ॥